विनय

हिन्दी के नामी लेखक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की लेखिनी का चमत्कार आज पाठक 'अतीत-स्मृति' के रूपमें देख रहे हैं। यह हिन्दी प्रेमियों के लिए हर्ष का तथा पुस्तक के प्रकाशक के लिए अत्यन्त गौरव का अवसर है। 'अतीत-स्मृति' हिन्दी भाषा की अमूल्य संपत्ति है और रहेगी।

केवल हिन्दी पाठक ही नहीं बल्कि लगभग समस्त हिन्दू जनता आज अपने आदि-पुरुषों के संबंध में कसम खाने को भी यथार्थ रूपसे कुछ नहीं जानती। इसमें संदेह नहीं कि कभी तो हमारे पूर्वपुरुष इन बातों को जानते ही थे; परन्तु वे जानते उतनी ही बातों को थे जितनी बातों को कि दीर्घकाल के अंतर ने उनसे बहुत दूर नहीं हटा दिया था। नई बातें रिवाज़ में आने पर पुरानी बातों का धीरे धीरे भूल जाना स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में उन बातों को लोगों की स्मृति में जीवित रखने का एकमात्र साधन इतिहास है। इसी साधन का भारत के देशी साहित्य में इतना प्रधान अभाव है कि संसार के अन्य साहित्यों को देखते हुए हमें इस पर कुछ आश्चर्य हो सकता है। पुराणों के प्रमाण बहुत लोगों की समझ में सर्वथा मान्य नहीं, क्योंकि भिन्न भिन्न पुराणों में किसी एक ही विषय के प्रायः एक दूसरे से थोड़े बहुत भिन्न वर्णन पाए जाते हैं। अतएव पुराणों को सच्चे इतिहास की कोटि में रखना पूर्णरूप से निरापद नहीं। और फिर, पुराणों में अधि-

कतर वंशावलियों के ही उल्लेख पाए जाते हैं। अन्य विषयों के संबंध में वे प्रायः चुप हैं।

इतिहास के इस अभाव का आजकल यह फल देखने में आता है कि इस समय प्राचीन संस्कृत साहित्य तथा आर्यों के संबंध में खोज करने का क्षेत्र जितना विस्तृत है उतना दूसरे किसी विषय की खोज का शायद नहीं है। इस समय जो जो सिद्धान्त विद्वानों ने स्थिर किए हैं वे प्रायः हमारे इतिहास-भिन्न प्राचीन साहित्य एवं पुराने सिक्कों, इमारतों स्तूपों तथा विदेशी यात्रियों के लिखे हुए वर्णनों पर अवलम्बित अनुमानों का ही फल हैं। और इसका परिणाम यह है कि प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों की अनेक वर्षों की खोज के बाद भी कितने ही प्रश्न अभी तक विवादपूर्ण बने हुए हैं। उदाहरणार्थ, अग्निमार्य, विक्रम संवत् आदि के विषय में भिन्न भिन्न विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं और आर्यों के आदिम-स्थान के संबंध में इन मतों की संख्या अभी तक बढ़ती ही जाती है। इनमें से किसी एक मत के पक्ष में दूसरों का निराकरण करना अधिक कठिन नहीं है परन्तु इस एक का स्थिर प्रतिपादन करना एक प्रकार से असंभव सा है। अधिक से अधिक जो कोई पढ़ा लिखा आदमी उनके बारे में कर सकता है वह यही है कि वह भिन्न भिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों को पढ़कर उनमें से किसी एक पर जो उसे अधिक संभवनीय मालूम हो, विश्वास कर ले।

हमारे प्राचीन साहित्य, प्राचीन सभ्यता-रीति रिवाजों की ऐसी अज्ञानावृत अवस्था में कोई भी वस्तु, जो हमें उनके बारे में कुछ बताने का दावा रखती हो, हमारे आदर की वस्तु है। हमें आशा है कि 'अतीत-स्मृति' का हिन्दी-संसार हृदय से सोल्लास स्वागत करेगा। भारतीय पुरातत्व का अध्ययन

और तत्संबंधी खोज नई बातें हैं-अंग्रेजों के समय से पहले की नहीं। परन्तु इतने ही समय में जो कुछ इस संबंध में किया जा चुका है वह आश्चर्यजनक है और उसका साहित्य बड़ा है। अन्य देशों में तो कितनी ही ग्रंथमालाएँ केवल इसी एक विषय की निकलती हैं। 'अतीत-स्मृति' विविध भाषाओं में लिखे हुए उन अनेक ग्रंथों और निबंधों का निष्कर्ष है जो पुरातत्व के अध्ययन के आरम्भ से आजतक भिन्न-भिन्न-देशीय विद्वानों ने अपनी दीर्घकालव्यापी खोजोंके बाद प्रकाशित कराए हैं।

यहाँ तक तो हुई पुस्तक के आन्तरिक महत्व की बात। हम चाहते थे कि पुस्तक के स्वरूप के बारेमें भी हम इतने ही अभिमान के साथ कुछ कहते। परन्तु हम लज्जित हैं कि इस दृष्टि से हम वृक्षके ताजे, सुगोल, सुरूप फलों के स्थान में पाठकों को भीलनी के कुतरे हुए विरूप बेर ही भेंट कर रहे हैं। पुस्तक में स्थान स्थान पर अशुद्धियां रह गई हैं जिनके लिए केवल प्रकाशक और प्रिन्टर लोग ही उत्तरदायी हैं। हमारी कतिपय दुर्निवार बाधाओं तथा प्रेसकी असावधानता के कारण ही अशुद्धियां इस संस्करण से दूर नहीं की जा सकीं। विज्ञ पाठकों से अति विनीत प्रार्थना है कि इन अशुद्धियों को ठीक करके पढ़ लें। शुद्धि-पत्र देना इसलिए अनुपयोगी समझा गया कि वह प्रायः पढ़ा नहीं जाता और यदि पढ़ा जाता है तो वह पुस्तक पढ़ने के अविच्छिन्न प्रवाह और उससे प्राप्त हुए आनन्द में बाधक होता है।

अंतमें, हमारी पुनः प्रार्थना है कि जिस प्रकार उदारचेता भावग्राही रामचंद्र ने कुतरे हुए परन्तु स्वादिष्ट बेरों की कुरूपता की ओर ध्यान नहीं दिया था उसी भांति उदार पाठक

हमारे इस प्रथम दोष को क्षमा कर पुस्तक के स्वरूप की ओर ध्यान नहीं देंगे।

हम अपने इस वक्तव्य से पूज्य श्री द्विवेदी जी को हार्दिक धन्यवाद प्रदि विना समाप्त नहीं कर सकते। द्विवेदी जी ने विना किन्ही शर्तों के ही हमें अपने इस अमूल्य ग्रन्थ को प्रकाशित करने की अनुज्ञा दे दी और जब हमने पुस्तक उनकी सम्मति के लिए भेजी तो उन्होंने इसकी त्रुटियों पर थोड़ा सा गुरुजन-सुलभ वत्सल क्रोध दिखाने के अतिरिक्त हमसे और कुछ नहीं कहा तथा, जिससे हमको अपने पहले ही प्रयत्न में भारी हानि न उठानी पड़े, हमको ऐसी ही किताब बेचने की आज्ञा दे दी।

विनयावनत

प्रकाशक



विषय-सूची



नोट—ब्रैकेटों में 'सरस्वती' की वे संख्याएँ दी हुई हैं जिसमें ये लेख पहले छप चुके हैं। पुस्तक पढ़ते समय पाठकगण कृपया इस बातका ध्यान रक्खें। उदाहरण के लिए, विक्रम-संवत् के प्रकरण में जहाँ लिखा है 'जिसे १९६७ वर्ष हुए' (पृष्ठ ८१, पंक्ति ६) वहां यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यह लेख सन् १९११ ई० में लिखा गया था।



अतीत-स्मृति



'आर्य्य' शब्द की व्युत्पत्ति

सभ्यता की उत्पत्ति क्रम क्रम से होती है, एक दम नहीं। मनुष्य भ्यताको साथ लेकर पैदा नहीं होता। हमारे आदिम पूर्वज फल, ल खा कर जीवन यात्रा निर्वाह करते थे। इसके वाद मृगया-ग का आरम्भ हुआ। इस युग में मृगया-लब्ध मांस ही सब गो का प्रधान खाद्य था। इसके अनन्तर पशुपालन-युग लगा र पशुओं के दूध और मांस से ही उदर पूर्ति होने लगी। भ्यताके तीन युग इस तरह वीते। जब जन-संख्या वहुत वढ़ ई और फल, मूल, दूध और मांस से निर्वाह होना असम्भव हो या तव सभ्यता के चौथे युग में कृषि अर्थात् खेती की द्भावना हुई।

कृषि और कृषक को निरादर की दृष्टिसे देखना मूर्खता है। पि का इस देश में किसी समय वड़ा आदर था। "उत्तम खेती" ी कहावत इस वात का प्रमाण है। अब भी समझदार आदिमी ती को आदर की दृष्टि से देखते हैं। कृषि-विद्या और कृषक का रप और अमेरिका में वड़ा आदर है। कृषि की इन देशों में हुत उन्नति हुई है। मनुष्यों के प्राण अन्न पर ही अवलम्वित हैं।

बिना अन्न के विद्या-बल, बुद्धि-बल और नीति-बल एक भी काम नहीं आ सकता। अन्न न मिलने से धार्म्मिक आदमी भी पशुवत् हो जाता है और माता भी अपने सन्तान की हत्या कर सकती है। आदमी और सब कुछ सह सकता है, पर अन्नाभाव नहीं सह सकता। पर्णकुटी में वास करके भी मनुष्य महाज्ञानी हो सकता है, किन्तु उसे यदि अन्न न मिले तो उसकी मनुष्यता शीघ्र ही उसे छोड़ भगे। इसीसे संसारमें कृषि और कृषि-विद्याकी अपेक्षण कल्याणकर और कुछ भी नहीं है। कृषि-विद्याको अपसारित करनेसे हमारी सभ्यता चूर्णविचूर्ण हुए बिना न रहेगी। सामाजिक, धार्म्मिक और पारिवारिक सारे बन्धन ढीले हो जायेंगे और हमे फिर मांस, दूध और फल-मूलों पर बसर करना पड़ेगा। अतएव जिन लोगोंने कृषि और कृषि-विद्याकी उद्भावना की उनके हम चिन्तन ऋणी हैं।

इस समय "आर्य्य" कहलानेमें अपना गौरव समझते हैं। और गौरवकी बात है भी जरूर। किन्तु "आर्य्य" शब्दका मूल अर्थ है "कृषक" (किसान) या "कृषक-सन्तान"। यह शब्द "ऋ" धातु से निकला है। यह धातु गत्यर्थक है। किन्तु अन्यान्य आर्य्य जातियों की भाषामें उनकी अनुरूप एक धातु है जिसका अर्थ खेती करना है। ग्रीक भाषामें "अर्-व" धातु, लैटिन भाषामें "अर्-ओ" गथिक भाषा में "अर्-यान्" लिथूनियन भाषा में "अर-ति" और जिन्द भाषा में "रर" धातु है। इन धातुओं का अर्थ खेती करना या हलसे खेत जोतना है। परन्तु संस्कृत भाषामें

"अर्" धातु नहीं है सम्भव है पुराने जमाने में "अर्" धातु रही हो और पीछे से लुप्त होगई हो। अथवा यह भी हो सकता है कि "ऋ" धातु ही के रूपान्तर, "अर्" (और संस्कृत व्याकरण में ऋ का अर् होता भी हो) और उसका मूल अर्थ "हल चलाना" हो। यह भी सम्भव है कि हलकी गतिके कारण ही "ऋ" धातुका अर्थ गतिसूचक हो गया हो। "ऋ" धातुके उत्तर "यत्" प्रत्यय करनेसे "अर्य्य" और "ण्यत्" प्रत्यय करनेसे "आर्य्य" शब्दकी सिद्धि होती है। विभिन्न भाषाओंके कृषिवाचक धातुओंका विचार करनेसे जान पड़ता है कि "अर्य्य" और "आर्य्य" दोनों शब्दोंका धात्वर्थ कृषक है। इसका परोक्ष प्रमाण संस्कृत-साहित्य और व्याकरणमें पाया भी जाता है। "अर्य्य" शब्दका एक अर्थ वैश्य भी है। पाणिनिकी अष्टाध्यायीके तृतीयाध्यायके पहले पादका "अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः" सूत्र इस बात का प्रमाण है। फिर पाणिनिके "इन्द्र-वरुण-भव-शर्व" आदि (४-१-४६) सूत्र पर सिद्धान्त-कौमदीमें आर्य्या और आर्य्याणी शब्दोंका अर्थ वैश्य-जातीय स्त्री और आर्य्य शब्द का अयवैश्य-पत्नी लिखा है। फिर, वाजसनेय (१४-२८) और तैत्तिरीय संहिता (४-३-१०-१) में चारो वर्णों के नाम—ब्रह्मन्, क्षत्र, अर्य्य और शूद्र लिखा है।

प्राचीन वैश्यों का प्रधान काम कर्षण ही था। इन्हीं का नाम "अर्य्य" है। अतएव "आर्य्य" शब्द का आद्यर्थ कृषक कहना युक्ति-विरहित नहीं। किसी किसी का मत है कि "अर्य्य" का अर्थ

कृषक और "आर्य्य" का कृषक-सन्तान है। ऋग्वेद में ब्रह्मन् शब्द का एक अर्थ है मन्त्रकर्त्ता। इसी ब्रह्मन् से ही ब्राह्मण शब्द निकला। ब्रह्मन् अर्थात् मन्त्रकर्त्ता के पुत्र का नाम ब्राह्मण है। विश शब्द का एक अर्थ है मनुष्य। इसी विश से वैश्व शब्द की उत्पत्ति है, जिसका अर्थ है मनुष्य-सन्तान। इसी नियम के अनुसार "आर्य्य" शब्द का अर्थ "अर्य्य-पुत्र" अर्थात् कृषक-सन्तान हो सकता है। "आर्य्य" शब्द का अर्थ चाहे कृषक हो, चाहे कृषक-सन्तान हो, फल एक ही है। अतएव आदि में "आर्य्य" शब्द कृषक-वाची था।

परन्तु इसमें लज्जा की कोई बात नहीं। कोई समाज ऐसा नहीं जिसमें जीवन धारण करने के लिए मृगयासक्ति छोड़ कर कृषि करने की ज़रूरत न पड़ी हो और समाज के गौरवशाली महात्माओं ने कृषि न की हो। कोई भी नई बात करने के लिए समाज के मुखिया महात्माओं ही को अग्रगन्ता होना पड़ता है। क्यों कि ऐसा किये बिना और लोग पुराने पन्थ को छोड़ कर नये पन्थ से जाते संकोच करते हैं। अतएव जिन्होंने कृषि कार्य की उद्भावना पहले पहले की उनको अपने ही हाथ से हल चलाना पड़ा। यही कारण है जो उन्होंने अर्य्य या आर्य्य नाम ग्रहण किया।

वैदिक ऋषि इन्हीं कृषकों के वंशज थे। प्राचीन आर्यों की तरह वैदिक मन्त्रकर्त्ता ऋषि भी अपने हाथ से चलाते थे। इसके प्रमाण मौजूद हैं। ऋग्वेद में "कृष्टी" शब्द अनेक बार आया है।

यास्क और सायन आदिने इस मतकी पोषकता की है। इस विषय में ऋग्वेद के दो एक मन्त्रों के भावार्थ सुनिये—

(१) हे आह्वान-योग इन्द्र तुम मनुष्यों को (कृषी नाम) हव्यके पास आओ और अभिष्णु सोमपान करो। ८-३२-१९

(२) हे सोम, मानवसमूह (कृष्टयः) जिससे तुम्हारे व्रतमें व्रती बने रहें। ६-८६-६७

(३) तुम मनुष्योंके धारक और उनमें समिद्ध हो (कृष्टीनां धर्ता उत मध्ये समिद्धः) ५-१-६

(४) सोमपान करके सब मनुष्य (विश्वाः कृष्टयः) जिससे काम्य पदार्थ प्राप्त करते हैं उसी महान् इन्द्रकी स्तुति करो। ३-४९-१

इससे सिद्ध है कि "कृष्टी" शब्द का अर्थ वेदमें मनुष्य किया गया है। जिस समाज में कृषकवाची कृष्टी शब्दसे साधारण मनुष्य का बोध होता है उसमे कृषि-कार्य्य ही प्रधान व्यवसाय समझना चाहिए। परन्तु कृष्टी शब्द का अर्थ आप मनुष्य न करेंगे कृषक ही करेंगे तो आप को कबूल करना पड़ेगा कि हमारा वेद अँगरेजी-पंडितों के कथनानुसार "हल जोतनेवालेका गीत समूह" है। क्योंकि पूर्वोक्त मन्त्रार्थों से प्रकट है कि वैदिक कृष्टी लोग ही यज्ञ करते थे, मन्त्र पढ़ते थे, स्तुति करते थे! ऋग्वेद में जैसे "पञ्च मानुषाः" और "पञ्च जनाः" आदि प्रयोग है वैसे ही "पञ्च कृष्टीः" भी है। अतएव उसमें कोई संदेह नहीं कि ऋग्वेद के समय में कृषिकार्य्य ही आर्य्यों की प्रधान आजीविका थी और

कृष्टी तथा आर्य्य शब्द का धात्वर्थ कृषक होने पर भी वे असाधारण मनुष्य-अर्थ में व्यवहृत होते थे।

वैदिक समय में खेती करना नीच काम नहीं समझा जाता था। "अक्षैः मा दिव्यः। कृषिं उत्त कृषस्व"। अर्थात पांसा मत खेलना। खेती करना। यह ऋग्वेदके दसवें मण्डल का एक मन्त्र है। इसमें खेती करने की साफ़ आज्ञा है। यदि कृषि कार्य्य बुरा समझा जाता तो कभी यह मंत्र वेद में न पाया जाता। पूर्वोक्त मण्डल के १०१ सूक्त में कृषि-कार्य्य-सूचक कितनी ही बातें हैं। चौथे मण्डल के ५७ सूक्त में खेत, खेत के स्वामी, हल, हलके कुंड़ इत्यादि के विषय में अनेक श्रद्धापूर्ण बातें हैं, जिनसे सूचित होता है कि ऋषिजन खेती के काम को बड़ी श्रद्धासे करते थे। महाभारत में लिखा है कि असोद-धौम्य नाम ऋषि खेती करते थे। और आरुणि आदि उनके शिष्य खेतमें काम करने जाया करते थे। रामायण में जनक का हल-ग्रहण सर्वश्रुतही है। जब महाभारत और रामायणके समयमें भी बड़े बड़े ऋषि और राजा कर्षण करना बुरा न समझते थे तब वैदिक युग में राजा-प्रजा, पंडित-मूर्ख सभी लोग हल-संचालन द्वारा खेती करेंगे, इसमें क्या सन्देह? हां इस समय कितने ही ब्राह्मण, क्षत्री, विशेष करके कनवजिया ब्राह्मण, हल छूना पातक समझते हैं। परन्तु अँगरेज़ी के कृपा से यदि कानपूर का कृषि-कालेज बना रहा तो कृषि विषयक वैदिक सभ्यता का पुनरुद्धार हुए बिना न रहेगा। क्योंकि कालेज में हल चलाना भी सिखाया जाता है।

इस समय लोगों के विचार में चाहे जैसे हों पर वैदिक ऋषियों ने देवताओं तक को हलग्राही लिखा है। उनको विश्वास था कि देवताओं ने ही पहले पहल कृषि-विद्या मनुष्य को सिखलाई है ऋग्वेद के आठवें मण्डल में कण्व के पुत्र सौभरि ऋषि कहते हैं—

हे अश्विद्वय, मनु की सहायता करने के लिये तुम ने स्वर्ग में हल के द्वारा पहले पहल यव-कर्षण किया। ८-२२-६

एक जगह और लिखा है—

हे अश्विद्वय, तुम ने मनुष्य के लिये हल से जो वेकार अन्न उत्पन्न करके, और वज्र से दस्यु लोगों को दूर भगा कर, आर्य जाति के लिये विस्तीर्ण जोति प्रकाशित की। १-११७-२१

इस से सिद्ध है कि प्राचीन समय में हल जोतना, बीज बोना और खेती करना बुरा नहीं समझा जाता था। सब लोग खेती में श्रद्धा रखते थे। खेती करना अप्रतिष्ठाजनक काम न था यदि "आर्य्य," और "कृष्टि" शब्दों का आद्यर्थ कृषक था। तथापि ऋग्वेद के समय में वह साधारण मनुष्यों के अर्थ में व्यवहृत होने लगा था। पीछे से "आर्य्य" शब्द का विद्वान् आदि और भी अच्छे अर्थों में व्यवहार होने लगा। अतएव यह शब्द बुरे अर्थ का द्योतक नहीं। इसी तरह "हिन्दू" शब्द मुसल्मानों ने यदि हम लोगों के लिये बुरे अर्थ में प्रयुक्त किया तथापि काल से हम उसे जिस अर्थ का बोधक समझते हैं वह बुरा नहीं।



"हिन्दू" शब्द की व्युत्पत्ति ।



किसी २ का मत है कि हिन्दू शब्द नदविवाचक सिन्धु शब्दका अपभ्रंश है और इण्डस (Indus) अर्थात सिन्धु शब्द से ही अँगरेजी शब्द इण्डिया (India) की उत्पत्ति है। किसी किसी का मत है कि अरबी हिन्द-शब्द से अंगरेजी शब्द इण्डिया निकला है। कोई कोई पंडित हिन्दू शब्द की सिद्धि संस्कृत व्याकरण से करते हैं। और कहते हैं कि वह हिसि+दो+ धातुओं से बना है और हीन अर्थात बुरे या कुमार्गगामी लोगों को दोष या दण्ड देनेवाले आर्यों का नाम है। बहुत आदिमी हिन्दू शब्द को फारसी भाषा का शब्द मानते हैं और उसका अर्थ चोर, डाकू, राहजन गुलाम, काला, काफिर आदि करते हैं। फारसी में हिन्दू शब्द जरूर है और अर्थ भी उसका अच्छा नहीं है। इसी से इस शब्द के अर्थ की तरफ लोगोंका इतना ध्यान गया है सिन्धुसे हिन्दू हो जाना या पुराने जमाने में हिन्दुओं को तुच्छदृष्टि से देखने वाले मुसलमानों का, उनके लिए काफ़िर और गुलाम आदि अर्थों का वाचक शब्द प्रयोग करना, कोई विचित्र बात भी नहीं। परन्तु पंडित धर्म्मानन्द महाभारती न तो इन अर्थों में से किसी अर्थ को मानते हैं और न हिन्दू शब्द की आज तक प्रसिद्ध व्युत्पत्ति ही को कबूल करते हैं। आपने पुरानी व्युत्पत्ति और पुराने अर्थ को गलत साबित करके हिन्दू

शब्दकी उत्पत्ति और अर्थ एक नए ही ढंग से किया है आप ने इस विषय पर तीन चार वर्ष हुए बँगला भाषा में एक लेखमालिका निकाली थी। उसके उत्तर अंश का मतलब हम यहां पर संक्षेप में देते हैं।—

फ़ारसी में हिन्दू शब्द यद्यपि रूढ़ हो गया है तथापि वह उस भाषा का नहीं है। लोगों का ख्याल कि फारसी का हिन्दू शब्द संस्कृत सिन्धु शब्द का अपभ्रंश है। वह लोगों का केवल भ्रम है। ऐसे अनेक शब्द हैं जो भिन्न भिन्न भाषाओं में एकही रूप में पाये जाते हैं। यहां तक कि उनका अर्थ भी कहीं कहीं एक ही है। पर वे सब भिन्न भिन्न धातुओं से निकलते हैं। उदाहरण के लिए शिव शब्द को लीजिये। संस्कृत में उसकी साधानिक तीन धातुओं से हो सकती है। पर अर्थ सबका एकही है अर्थात कल्याण या मङ्गल का वाचक है। यही 'शिव' शब्द यहूदी भाषा में भी है। वह अँगरेजी अक्षरों में "Seeva" लिखा जाता है। पर उच्चारण उसका शिव होता है। वह यहूदी भाषा में 'शू' धातु से निकलता है उसका अर्थ है "लाल रंग"।'शिव' नाम का यहूदियों में एक वीर भी हो गया है। अब, देखिए क्या संस्कृत का 'शिव' यहूदियों के 'शिव' से भिन्न नहीं? लोग समझते हैं संस्कृत का 'सप्ताह' शब्द और फ़ारसी का 'हफ़्ता' शब्द एकार्थवाची होने के कारण एक ही धातु से निकले हैं। यह उनका भ्रम है। हफ़्ता एक ऐसी धातु से निकला है जो संस्कृत -सप्ताह शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। फारसी में से (से) स (स्वाद) स (सीन) श (शीन)

ऐसे चार वर्ण हैं जिनका उच्चारण एक दूसरे से बहुत कुछ मिलता है। अतएव सप्ताह का 'स' हफ़्ता के 'ह' में कभी नहीं बदल सकता। हफ़्ता शब्द सप्ताह का अपभ्रंश नहीं। जो कोई उसे सप्ताह का अपभ्रंश समझते हैं वे भूलते हैं।

इसी के पांच सौ वर्ष बाद मोहम्मद का जन्म हुआ। उनके जन्म के कोई साढ़े सात सौ वर्ष बाद मुसल्मानोंने हिन्दोस्तान पर पदार्पण किया। यदि हिन्दू शब्द मुसल्मानों का बनाया हुआ है तो उस की उमर बारह सौ वर्ष से अधिक नहीं। परन्तु पाठकों को सुन कर आश्चर्य होगा कि हिन्दू शब्द ईसा के जन्म से भी कई हज़ार वर्ष पहले का है। तो फिर क्या वह वेद में है? नहीं। किसी शास्त्र में है? नहीं। जैन या बौद्धों के पुराने ग्रन्थ में है? नहीं। फिर है कहां? है वह अग्निपूजक पारसियों के धर्मग्रन्थ जेन्दावस्ता में। जिन पारसियों को आज कल हिन्दू लोग, धर्म सम्बंध में बुरी दृष्टि से देखते हैं उन्हीं के प्राचीनतम ऋषियों और विद्वान् पंडितोंने हिन्दू शब्दके आदिम रूपको अपने धर्म ग्रन्थमें स्थान दिया है। वह आदिम रूप हनूद शब्द है। यहूदियोंकी धर्म-पुस्तक ओल्ड टेस्टामेंट (बाइबल के पुराने भाग) में भी हनद शब्द पाया जाता है। अब देखना है कि इन दोनों ग्रन्थों में से अधिक पुराना ग्रन्थ कौन है।

क्रिश्चियन लोगों का कथन है कि बाइबिल का पुराना भाग क्राइस्ट से पांच हज़ार वर्ष पहले का है। इसमें कोई सन्देह नहीं। इसे वे पूरे तौर पर सच समझते हैं—"Our Zendavesta

is as ancient as the creation; it is as old as the Sun or the Moon"

"अर्थात् धर्म्मग्रन्थ जेन्दावस्ता इतना पुराना है जितना यह सृष्टि ; वह इतना प्राचीन है जितना सूर्य्य या चन्द्रमा" पारसियों की यह उक्ति सच है। उसके प्रमाण (१) यहूदियो का धर्म्म शास्त्र, ओल्डटेस्टामेंट, हिब्रू अर्थात इब्रीय भाषा में है और पारसियों की जेन्दावस्ता जेन्द भाषा में। हिब्रू भाषा की अपेक्षा जेन्द भाषा बहुत पुरानी है।

(२) ओल्ड टेस्टामेंट में अनेक नए नए स्थानों और जंगलो का नाम है। वे स्थान और जंगल जेन्दावस्ता के समय मे न थे।

(३) हाल साहेब और मिस्टर मलाबारी कहते हैं कि पुरानी पारसी जाति में मनु के आर्ष विवाह के समान सभ्य विवाह पद्धति प्रचलित न थी। परन्तु ओल्ड-टेस्टामेंट मे इस ग्रन्थ के विवाह का वर्णन है। ओल्डटेस्टामेंट के प्रचार के पूर्ववर्त्ती समाज मे जिस प्रकार की विवाह प्रथा प्रचलित थी उसका वर्णन जेन्दावस्ता मे है।

(४) जेन्दावस्ता में यहूदी शब्द या यहूदी जाति का नाम नहीं है, पर ओल्ड-टेस्टामेंट में कम से कम नौ दफा पारसी जाति का जिक्र है।

(५) बाइबलमें कई जगह लिखा है कि पारसियोने यहूदियों को जीत कर बहुत काल तक उनके देशमें राज किया। पर यहूदियों में किसी ने पारसियोको विजय नहीं किया :

(६) अग्निपूजा पृथ्वीकी प्राचीन जातियोंके सबसे अधिक

प्राचीन प्रथा है। ओल्ड-टेस्टामेंटके समयमें अग्नि-पूजा बन्द हो गई थी पर जेन्दावस्ताके समय में उसका खूब प्रचार था। इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि ओल्ड-टेस्टामेंटसे जेन्दावस्ता पुराना ग्रन्थ है।

बंगला संवत् १३०६ के ज्येष्ट की "भारती" नामक बँगला मासिकपत्रिकामें भारतीसम्पादिका श्रीमती सरलादेवी बी० ए० लिखित एक प्रबन्ध छपा है। उसका नाम है "हिन्दू और निगर"। उसमें लिखा है—"हिन्दू शब्द संस्कृत सिन्धु शब्द से उत्पन्न नहीं है।........ जेन्दावस्ता नामक पारसियोंका पुराना धर्म्मग्रन्थ वेदों के समयका है। उसमें हिन्दू शब्द एक दफा आया है। हारोबे-रेजेति (अल्वुर्ज) पहाड़के पास पहले २ ऐर्य्यन-वयेजो (आर्य निवास) था। धीरे २ अहर्मजदाने (पारसियोंके परमेश्वरने) सोलह शहर बसाये। उनमेंसे पन्द्रहवें शहरका नाम हुआ 'हप्तहिन्दव"। वेदोंमें इसीको "सप्तसिंधव" कहते हैं। जेन्दावस्तामें तीर-इयास्त्रे नामक एक पहाड़के लिए भी एक वार, 'हिन्दव' शब्द आया है। अनुमान होता है यही 'हिन्दव' शब्द आज कलके हिन्दूकुश पर्वत का पिता है।

व्यवहारमें न आनेके कारण यह मूल अर्थ धीरे धीरे भूल गया। तब, बहुत दिनों के बाद, वैयाकरण लोगोंने "स्पन्द" धातुके आगे औणादिक "अ" प्रत्यय लगाकर, किसी तरह तोड़ मरोड़कर समुद्रार्थ बोधक सिन्धु शब्द पैदा कर दिया। यह उनकी सिर्फ

कारीगरी मात्र है। इत्यादि। यह बात बिलकुल नई है। इसके पहले और किसी ने इसका पता नहीं लगाया।

इससे मालूम हुआ कि हिन्दू-शब्द यवनोंकी सम्पत्ति नहीं, उसे मुसल्मानों ने नहीं बनाया। जेन्दावस्ता नामक अति प्राचीन और पारसियोंके अति पवित्र ग्रन्थ में उसका प्रयोग सबसे पहले हुआ। जेंन्दावस्ता ग्रन्थ वेदोंका समसामयिक है। प्राचीन पारसी लोग अग्निहोत्री (अग्निके उपासक) थे। आज कलके पुरातत्वज्ञ उनकी गिनती प्राचीन आर्यों में करते हैं।

अभी तक आपने हिन्दू शब्दका सिर्फ अङ्कुर देखा। अब देखिए अङ्कुरोत्पन्न वृत्त और उसके बाद, वृत्तोत्पन्न फल।

यहूदियोंका धर्म्मशास्त्र, ओल्ड टेस्टामेंट, ३९ भागोंमें बँटा हुआ है। अथवा यों कहिए कि उसमें जुदा जुदा ३९ पुस्तक हैं। उसमें से सत्रहवीं पुस्तकका नाम है "दि बुक आफ यस्थर" (The Book of Esther) इसा हिब्रू नाम है आजथुर। इसके पहले अध्याय मे है—

"Now it came to pass in the days of Ahasuerus, this is Ahasuerus which reigned from, India even to Ethiopia, over an hundred and seven and twenty provinces." Esther, Chapter I, Verse I

अर्थात् अहासुरस् राजाने इंडियासे ईथियोपिया तक राज किया। अब इस बातका विचार करना है कि 'इंडिया' (हिन्दोस्तान) शब्द

किस अर्थका वाचक है। याद रखिए यहूदियों का ओल्ड-टेस्टामेंट ग्रन्थ ईसासे पांच हजार वर्ष पहलेका है। वह हिब्रू भाषामें है। उसीको अँगरेज़ी अनुवादमें 'इंडिया' शब्द आया है। अच्छा, तो यह 'इंडिया' शब्द किस हिब्रू शब्दका अनुवाद है। वह पूर्वोल्लिखित 'हन्द्' शब्दका भाषान्तर है। हिब्रू में 'हन्द' शब्दका अर्थ है—विक्रम, गौरव, विभव, प्रजा, शक्ति, प्रभाव इत्यादि। यह बात ओल्ड टेस्टामेंट में अनेक अवतरणों से साबित की जा सकती है। परन्तु उन सब प्रमाणों को देनेसे लेख अधिक बढ़ जायगा। इस से हम उन्हें नहीं देते। अब आजूथुर पुस्तक से जो वाक्य ऊपर दिया गया है उसके अर्थका विचार कीजिए—"आहासुरस् राजाने हन्द् (शक्ति) से ईथियोपिया तक राज्य किया"। जिस तरह अँगरेज़ी में बहुधा गुण-वाचक शब्दका परिचय सिर्फ उसके गुणों के उल्लेख से होता है उसी तरह हिब्रू भाषामें भी होता है। अतएव, "हन्द् से ईथियोपिया तक राज्य किया" इस वाक्य का अर्थ हुआ "हन्द् शक्ति विशिष्ट राज्य) से लेकर ईथियोपिया तक राज्य किया।" जिनको इस बात पर विश्वास न हो वह डाक्टर हेगका बनाया हुआ अँगरेज़ी—हिब्रू व्याकरण देखने की कृपा करें।

यहूदी लोग ग्रीक लोगोंसे पुराने हैं। ग्रीसमें एक ऐतिहासिक लेखक हो गया है। उसका नाम था मिगास्थनीज़। उसने एक जगह लिखा है "यहूदी लोगों ने पारसियों से ज्ञान और शिक्षा और भारतवासियों से धन और प्रभुत्व प्राप्त किया था"। यहूदियोंने भार-

तवर्ष में व्यापार करके वहुत धन कमाया था, यह वात यहूदियोंने अपने ही लिखे हुए इतिहास में स्वीकार की है। उसके और भी अनेक प्रमाण ग्रीस और रोम विषयक पुस्तकों में पाये जाते हैं। यहूदी राजा दाऊदके पुत्र सालोमनके विश्व-विख्यात मन्दिरके लिए लकड़ी, चूना, पत्थर इत्यादि मसाला हिन्दोस्तान से गया था। थराक्लूश नामक एक ग्रीक ग्रन्थकारने लिखा है—भारतवर्ष का विक्रम और गौरव देख कर ही यहूदी लोग इस देश को हनद कह कर पुकारते थे"। अव देखना है कि यहूदी लोगो ने इस हनद् शब्द को पाया कहांसे ? पाया उन्होंने पारसियो की जेन्दावस्ता से। प्रमाण—

(१)यहूदियोंके देशमें वहुत् काल तक पारसियोने राज्य किया। उनके राज्य-काल मे यहूदी-अदालतो में जेन्दभाषा ही वोलते थे। वे लोग जेन्दावस्ता पढ़ते थे। इस से—पारसियो के हिन्दव शब्द से यहूदी जरूर परिचित रहे होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(२)यहूदियो ने जेन्दावस्ता से अनेक देश, पर्वत और नदियों आदि के नाम लिये हैं। यथा

जेन्द भाषा।		हिब्रू भाषा।
तरशश् (Taurus)	...	तरश्
मोश्जा	...	मोशजा
मज्दाहा	...	मेशाया (Messeah)
कोशा	...	कोशा
अरदूजु	...	इयारजड

हिब्रू भाषा कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं। वह जेन्द भाषा से उत्पन्न है। अतएव यह बात अखण्डनीय सत्य है कि जेन्द भाषा के हिन्दव शब्द ने ही हिब्रू भाषा में हन्दू रूप धारण किया। उसकी पुष्टि में अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं।

पाठक, आपने महाजनों की मुँड़िया लिपि देखी है। न देखी होगी तो उसकी विशिष्टता से आप जरूर ही वाकिफ होंगे। उसमें आकार, इकार उकार आदि की मात्रायें नहीं होतीं। इस से बाबा, बीबी, बूबू, बोबो सब एकही तरह लिखे जाते हैं। अपेक्षित शब्द पढ़ने वाले अपनी बुद्धिसे पढ़ लेते हैं। इसी कारण से कभी कभी मामा की मामी किश्ती की कुश्ती, घड़ा का घोड़ा और "अजमेर गये" का "आज मर गये" हो जाता है। हिब्रू भाषा भी ऐसे ही है। उस में भी इकार, उकार, आदि नहीं है वह दाहने हाथ की तरफ़ से लिखी जाती है। उसकी पुत्री अरबी और पौत्री फ़ारसी भाषा है। इन दोनों भाषाओं में जेर, जबर और पेश आदि चिन्हों के प्रयोग वैय्याकरणों ने अकार, इकार और उकार का उच्चारण किसी प्रकार निश्चित कर लिया है। पर हिब्रू में यह बात अब तक नहीं हुई। उसी वर्णमाला में सिर्फ दोही एक स्वर है, सो भी अपरिस्फुट चिन्हों के द्वारा अनेक शब्दों का उच्चारण होता है। इस से क्या होता है कि बहुत स्थलों में इकार का लोप हो जाता है। देखिए—

जेन्द		हिब्रू
किरियाद्	...	करयोयद्
शिकना	...	सकना

हिशिया	...	असाय
हिज्रद	...	यजानुद।
विरजोद्	...	बरजाद

यदि हम यह कह दें कि हिब्रू में इकार है ही नहीं तो भी अत्युक्ति न होगी। जो शब्द खास हिब्रू का नहीं है उसमें पूरा इकार नहीं होता। उच्चारण में इकार होने से भी वह लिखा नहीं जाता। यथा—

हिब्रू उच्चारण	...	हिब्रूलिखावट।
जिहोवा	...	जहोवा
हिश्जिल	...	यश्जल्
इश्राइल	...	यश्रहिल
इश्राया	...	भाजाया
इयाकुव	...	आकूव
मरियम	...	मरम्

अतएव जेन्द शब्द हिन्दव का इकार यदि हिब्रू में उड़ जाय तो आश्चर्य ही क्या है? अच्छा, इकार तो यों गया; अब यह बतलाइए कि "हिन्दव" का 'व' कार कहां और किस तरह गया? सुनिए, उसको भी हम पता बतलाते हैं। हिब्रू भाषा में त, थ, द, च, ह, ड, आदि अक्षरों का उच्चारण होने से व, फ ओ और य का लोप हो जाता है। दृष्टान्त—

हिब्रू शब्द।	उच्चारणमें लोप।
तोवा—	तोहा
असथुवा—	असथुहा

सन्दव—	सन्द अथवा सनद्
गदव्—	गद्
दाग्दव्—	दाग्द्
अदावा—	आदाहा

अतएव पारसियोंकी जेन्दावस्ताका पवित्र हिन्दव शब्द हिब्रू भाषा में "हन्द्" हो गया। जो कुछ यहाँ तक लिखा गया उससे यह सिद्धान्त निकला कि—

(१) हिन्दू शब्द पहले जेन्दावस्तामें प्रयुक्त हुआ।

(२) पारसी लोग इस शब्द के सृष्टिकर्ता हैं।

(३) यहूदियोंने इसे अपनी भाषामें लेकर हन्द् कर दिया।

हिन्दोस्तानसे ग्रीक लोग बहुत दिनोंसे परिचित थे। उनको इस देश की खूब अभिज्ञता थी। जिस रास्तेसे ग्रीक लोग हिन्दुस्तान आते थे उस रास्तेमें एक पहाड़ पड़ता था। कई कारणोंसे उन्हे उनके पास ठहरना पड़ता था। इस रास्तेका वर्णन उन्होंने आहासुरस् राजा की पुस्तक में पढ़ा था। वर्फ से ढकी हुई और बहुत ऊँची पर्वतमाला को रास्ते में देखकर ग्रीक लोगों ने अपने साथियों से इनका नाम पूछा। उन्होंने कहा इसका नाम हम नहीं जानते। पर इनके साथ एक पुरोहित भी था। उसने कहा "मैंने सुना है कि इसके एक तरफ़ हन्द् देश की सीमा है और दूसरी तरफ ईथियोपिया राज्य की राजनैतिक सीमा"। इसी ईथियोपिया राज्य का हिब्रू नाम है कुश (Cush) बाइबल (ओल्ड टेस्टामेंट)

की पहली पुस्तक, जेनोसिस, के दूसरे अध्याय की तेरहवीं आयत में है—

"And the name of the second river is Gihon; the same is it that compasseth the whole of the Ethiopia."

जहाँ पर यह आयत है उसके किनारे टीका में लिखा है कि ईथियोपिया को यहूदी लोग कुश कहते थे। मूल हिब्रू में ईथियोपिया नहीं है, उसके जगह कुश ही है। इसी कुश शब्द ने भाषा में कोश Cosh रूप धारण किया यह कोश शब्द चेतना-विशिष्ट पुल्लिङ्ग हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कोश, ईथियोपिया राज्य का नाम है। हिब्रू भाषा की तरह ग्रीक भाषा के व्याकरण के अनुसार भी कोश शब्द गुणवाचक है। हिब्रू भाषा में कुश या कोश शब्दका अर्थ सीमा भी होता है और पर्वत भी होता है।इसी कुश या कोश से 'को:' "कोह" शब्द निकले हैं जिनका अर्थ अरबी और फारसी भाषा में पर्वत था। पुराने जमाने में इस देश की पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश पर्वत था। रघु के दिग्विजय मे, महाभारतोक्त गान्धारी के विवाह-वर्णन में, और पुराने भूगोल में इस बात का प्रमाण मिलता है कि हिन्दूकुश के आसपास भारतीय-राजाओं का राज्य था, पर इसके आगे न था इन्हीं कारणों से ग्रीक लोगों ने हन्दू देश की सीमा के, अथवा हन्दू देश के सीमाज्ञापक पर्वत के, अर्थ में इस पहाड़ का नाम "हन्दू कोश" (Hankosh) रक्खा। यह बात युक्तिसङ्गत् और सन्देह-हीन है। ग्रीक भाषा में पर्वत शब्द

पुल्लिङ्ग और चेतनावान है। अपभ्रंश होते होते वह हनद्कोश से "इण्डिकस" हो गया। यही "इण्डिकस" अंगरेजी राज्य में इण्डिया (India) हुआ। अब देखिए, जेन्दावस्ता का हिन्दव हिब्रू भाषा में हुआ हनद्। हिब्रू भाषा का हनद् ग्रीक भाषामें हुआ हनद् कोश इण्डिकस। ग्रीक भाषाका इण्डिकस अँगरेजी हुआ है, इण्डिया।

हिन्दूकुश से अटक के किनारे तक जो लोग रहते हैं वे पश्तू भाषा बोलते हैं। ये लोग फारस के आदिम निवासी हैं। फारसी से उनकी भाषा बहुत मिलती है। धर्म्मान्तर ग्रहण करने के पहले ये लोग पारसियों की तरह अग्निपूजक थे। इन्हीं पश्तू बोलने वाले भारतवासियों ने, अर्थात् जेन्दावस्ता के मानने वाले अग्नि सेवक पुराने पारसियों के वंशधरों ने, हनूद् शब्द के आगे ह्रस्व उ प्रयोग करके, उसे 'हन्दु' के रूप में बदल दिया। पश्तू व्याकरण के अनुसार हनद् और हिनद् शब्द के उत्तर ह्रस्व उ प्रत्यय करने से "युक्त" अर्थ होता है। उ प्रत्यय होने से हनद् अर्थात् शक्ति, गौरव, विभव, प्रभाव इत्यादि इत्यादि महिमायुक्त जाति-सूचक होती है। क्योंकि पश्तू-व्याकरण के नियमानुसार उ प्रत्यय "गुणवाचक जाति या गुणवाचक पुरुष के आगे होता है"। प्राचीन आर्य्य हिन्दू जाति के गौरव, पवित्रत्व और विभव आदि को देख कर ही पश्तू बोलने वालों ने उ प्रत्यय का प्रयोग किया था। पश्तू भाषा में हनद् और हन्दु शब्द गौरववाचक है। इसके प्रमाण में पश्तू भाषा के दो पद्य नीचे पढ़िए—

युशारो लबोदे जङ्गीर फेजो पान।
वरो वरो नन लाखियाल् लदे जङ्गरे
हन्दु जेल् फालगो ॥१॥
देवाट् देरन् ज, जरर् चहें रम्।
कत्लेबे यत्वे देश् तर् गो
हन्दु एम् सां डेरो ॥२॥

इस प्रकार जेन्दावस्ता का 'हिन्दव' शब्द पश्तू में 'हन्द' तक पहुंचा। सिक्खधर्म-प्रवर्तक गुरु नानकके सैनिक शिष्यों ने गुरुमुखी भाषा में उसे 'हिन्द' कर दिया। नानकके पहले यह शब्द हिन्दव, सिन्धव, हनद और हन्द तक रहा। हिन्दु वंशावतंस सिक्खों ने अन्तमें उसे "हिन्दू" के रूप में परिवर्तित कर दिया। जो लोग कहते हैं कि हिन्दू-शब्द सीमाबद्ध है वे बड़े ही भ्रान्त हैं। कहां फारस कहां यहूदी देश, कहां ग्रीस, कहां महासुरस का राज्य। सब कहीं वही प्राचीन हिन्दू नाम!

इस विवेचना से सिद्ध हुआ कि हिन्दु-शब्द का अर्थ है विक्रमशाली, प्रभावशाली आदि। सुप्रसिद्ध फरासीसी लेखक जाकोलियेत (Jaqulietho) ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है—"असाधारण बल और असाधारण विद्यावत्ता के कारण पूर्व-काल में भारतवर्ष पृथ्वी की सारी जातियों का आदरपात्र था"। जिस हिन्दू जाति की साधुता, वीरता, विद्या, विभव और स्वाधीनता आदि देख कर पारसी, यहूदी ग्रीक और रोमन लोग मोहित हो गए और मुसलमान-इतिहास लेखकों ने जिस देश को स्वर्ग-भूमि

कह कर उल्लेख किया, क्या इसी देश के रहने वाले काफिर, काले, गुलाम कदाकार और पारस्वापहारी कहे जा सकते हैं? यह बात क्या कभी विश्वास-योग्य मानी जा सकती है? हिन्दू शब्द कदर्थ बोधक नहीं। हिन्दू-शब्द गौरव, गरिमा, विक्रम और वीरत्व का व्यञ्जक है। तो कहिए, क्या आप अब हिन्दू-नाम छोड़ना चाहते हैं? जो ज्ञान, विज्ञान और सर्व शास्त्रीय तत्वों का आदर्श है जो प्राणशीतलकारी ब्रह्म—विद्या का आकार है, जो विक्रम और विभव की खानि है। वही पवित्र और प्रशस्त हिन्दू—नाम हमारे मस्तकको मणि है हमारे देश का गौरव है, हमारी जाति के महत्व का व्यञ्जक है और वही इस अधःपतित; अर्द्धमृत, पदानत भारतीय, आर्य्यजातिके जातीय जीवन का पुनरुद्दीपक है। हिन्दू एक शब्द है, एक ऐसा नाम है, जिसके उच्चारणसे भग्न हृदयमें फिर आशा का सञ्चार हो जाता है' क्षीण-देहमें बल-स्रोत फिर वेगसे बहने लगता है; अन्तःकरणमें जातीय-गौरव का फिर अभ्युदय हो आता है, और मनमें ब्रह्मानन्द का अतर्कित अनुभव होने लगता है। तब हिन्दू—नाम हम छोड़ें क्यों?



आदिम आर्य्य



विलासपुर के श्रीयुक्त वी० सी० मजूमदार, बी० ए० अच्छे पुरातत्त्ववेता हैं। उनके लेख विद्वत्ता तथा गवेषण-पूर्ण होते हैं। अगस्त १९१२ की सरस्वती में, पुराणों की प्राचीनता-सम्बन्धी उनके एक लेख का मतलब प्रकाशित हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि वह लेख जितने महत्त्व का था उतने ही परिश्रम और खोज से वह लिखा भी गया था। अगस्त १९१२ के माडर्नरिव्यू में मजूमदार महाशय का एक लेख और भी वड़े महत्वका निकला है। उसमें उन्होंने दिखाने की चेष्टा की है कि भारत के प्राचीन आर्य्य कहीं वाहर से न आये थे, वे यहीं के निवासी थे और इसी देश के पूर्व और दक्षिणी भागों से चल कर वे उत्तर पश्चिमाञ्चल में जा बसे थे। अक्तूबर १९१२ के माडर्नरिव्यू में उनके इस कथन के कुछ अंश का खण्डन भी श्रीयुत रामचन्द्र के० के प्रभू नाम के एक सज्जन ने किया है। लगभग सभी इतिहासकारों का मत है कि भारतीय आर्य्य कहीं वाहर से भारत में आये। मजूमदार महाशय इस सिद्धान्त के विरोधी हैं। हम संक्षेप में, उनकी उन युक्तियों को नीचे लिखते हैं, जिनके आधार पर उन्होंने अपना पूर्वोक्त मत स्थिर किया है।

वैदिक मन्त्रों से इस वात का विलकुल पता नहीं लगता कि

उनका रचयिता आर्य्य भारतवर्ष में कहीं बाहर से आये। अध्यापक मेकडानल ने तो यहां तक लिख दिया है कि वेदों से यह बात प्रगट ही नहीं होती कि भारतीय आर्य्यों के अन्य किसी देश का कुछ भी पता था। आदिम मनुष्य जातियों में एक यह विशेषता थी कि वे अपने प्राचीन इतिहास को न भूलती थीं। वे उसकी रक्षा, किसी न किसी रूप में, अवश्य करती थी। यदि यह मान लिया जाय कि आर्य्य लोग भारत में कहीं बाहर से आये तो यह बड़े ही आश्चर्य्य की बात है कि वे अपने पूर्व्व इतिहास को—अपनी प्राचीन भूमि छोड़ने की बात को बिल्कुल ही भूल गये। अध्यापक हापकिन्स का मत है कि अधिकांश वेद मन्त्रों की रचना उन देशों में हुई थी जो पञ्जाबके पूरब में हैं। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि प्राचीन आर्य्य, सिन्धु नदी को जिसे वे उस समय समुद्रवत् ही समझते थे, पार कर के बाहर से भारत में आये? वेदों से यह प्रगट नहीं होता कि भारतीय आर्य्यों को कभी सिन्धु पार करना पड़ा। उस काल के आरम्भ में और उस से पहिले भी मध्य-एशिया का कुछ खण्ड जल के भीतर मग्न था और भारतवर्ष एक द्वीप के सदृश था। बिलूचिस्तान और मरुदेश पानी में डूबे हुए थे। सिन्धु साधारण नदी की तरह नहीं किन्तु, समुद्र की तरह था। उस समय वही जाति भारत में आने का साहस कर सकती जिसे और कहीं ठिकाना न होता और जिसके ऊपर कोई बड़ी भारी विपत्ति पड़ी होती।

यदि यह कहा जाय कि आर्य्य लोग हिमालयके किसी दर्रेमेंसे

होकर आये होंगे तो यह बात भी ठीक नहीं मालूम होती । ऐसी हालतमें कश्मीर उनके रास्तेमें अवश्य पड़ता । अतएव ऐसे रमणीक स्थान को वे अपना उपनिवेश अवश्य बनाते । परन्तु आर्योंके जितने प्राचीन ग्रन्थ हैं उनमें काश्मीर का जिक्र तो दूर रहा, उसका नाम तक नहीं है । आर्य्य लोग पीछेसे काश्मीरमें जा बसे थे; पहिले उन्हें उसकी कुछ भी खबर न थी । उन ग्रन्थोंमें, जो वेदोंसे पीछे बने, अनेक अन्य अन्य देशोंके नाम पाये जाते हैं । परन्तु, वेदोंमें, भारतके बाहर का एक भी भौगोलिक नाम नहीं ।

भिन्न २ देशों की भिन्न २ जातियों में कितने ही तद्भव और तत्सम शब्द, एक ही अर्थ में, व्यवहृत होते हैं । उन्हीं शब्दों के इतिहासके आधार पर शब्द-शास्त्र-वेत्ताओंने यह परिणाम निकाला कि प्राचीन कालमें, आदिम आर्य्य, एकही स्थानसे कितने ही जत्थोंमें बंट कर, पृथ्वीके अन्य भागोंमें फैल गये । यदि ऐसा हुआ हो तो इसमें सन्देह नहीं कि अपनी प्राचीन भूमि छोड़नेके पहिले ही आर्य्य लोग बहुत कुछ सभ्य हो चुके थे, क्योंकि जिन शब्दोंसे शब्द-शास्त्र-वेत्ता अपना यह मत पुष्ट करते हैं उनमेंसे कितने ही शब्द ऊंचे दर्जेके सभ्यताके सूचक हैं । आजकलकी असभ्य जातियों को भी थोड़ा बहुत दिशाओं का ज्ञान होता है । वे दिशाओंके कुछ न कुछ नाम अवश्य रख लेती हैं । इस लिए मानना पड़ेगा कि सभ्य आर्य्य-जातिने, अपनी प्राचीन भूमि छोड़ने के पूर्व्व, दिशाओं का नाम अवश्य कुछ न कुछ रख लिया होगा । परन्तु हम देखते हैं कि बात ऐसी नहीं है । जितनी आर्य्य

भाषायें, आज संसारमें हैं उनमें दिशाओंके सूचक एकसे शब्द नहीं। भारतीय आर्य्योंकी भाषामें दिशाओंके नाम "उत्तर" दक्षिण "पूर्व्व" और "पश्चिम" हैं। ये चारों शब्द और किसी भाषामें नहीं पाये जाते। यदि आर्य्य लोग बाहरसे भारतमें आये तो यह नहीं माना जा सकता कि उन्होंने, भारतमें आनेके पूर्व, दिशाओं का कुछ नाम ही न रक्खा था, या उन्होंने दिशाओं का नाम रख तो लिया था, पर भारतमें आते ही उन्होंने उन नामो को बदल डाला। मिश्रके प्राचीन निवासियोंने दिशाओंके नाम नील नदीके प्रवाहके अनुसार गढ़े थे। "ऊपरी प्रवाह" से वे उत्तर का मतलब लगाते थे और "नीचेके प्रवाह"से दक्षिण का। यदि प्राचीन आर्य्यों द्वारा रक्खे गये दिशाओंके नामों का पता लग जाता तो उनके पूर्वनिवासस्थलकी स्थित और उनका उसे छोड़ कर आगे बढ़ने का कुछ न कुछ पता भी अवश्य हो चल जाता।

लोगों का ख्याल है कि सूर्य्योदय और सूर्य्यास्तके हिसाबसे हमारे दिशा-सूचक शब्दोंकी रचना हुई। पूर्व और पश्चिम, इन दोनों शब्दोंसे सूर्योदय और सूर्यास्त का अर्थ लिया जा सकता है। परन्तु उत्तर और दक्षिणसे सूर्य्यकी गति का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यह भी सम्भव नहीं कि आदिम कालमें दिशाओंके लिये जिन शब्दों का उपयोग किया गया हो उनका दिशाओंसे कोई सम्बन्ध ही न रहा हो।

'उत्तर' शब्द का अर्थ है ऊंचा। 'उत्तर शब्दके स्थानमें 'उदीच्य' शब्द का भी प्रयोग होता है। उसका भी वही अर्थ है

जो 'उत्तर' का है। भारतवर्षके उत्तरमें हिमालय पर्वत है। वह बहुत ऊँचा है। आर्य्य लोग जब और जहांसे पहिले चले होंगे, हिमालय पर्वतके नीचे अवश्य पहुँचे होंगे, तो हिमालय किसी तरह उत्तर दिशामें नहीं पड़ सकता।

पुरातत्त्व-वेत्ताओं का मत है कि प्राचीन समयमें, हिमालयके नीचे, उत्तर, पूर्वके कोनेमें, किसी सभ्य जातिकी बस्ती रही होगी यदि हम यह मानलें कि भारतके दक्षिणी भागसे कोई जाति, हिमालयके नीचे, उत्तर-पूर्वके कोनेमें, जो बसी और वहां उन्नति करके देशके पश्चिमी भागमें, जहांकी भूमि बड़ी ही उर्वरा थी, जो फैली तो, हमे चारों दिशाओंके सूचक इन चारों शब्दोंके अर्थ भारत भूमिकी तत्कालीन स्थितिके अनुसार, समझनेमें कोई दिक्क़त नहीं पड़ती।

'दक्षिण' शब्द 'दक्ष' धातुसे बना है। 'दक्ष' का अर्थ है—'बढ़ना'। उसका अर्थ 'दाहिना' भी होता है, परन्तु इस अर्थमें वह पहिले व्यवहृत न होता था। वैदिक कालमें एक देवता का नाम भी दक्ष था। वह अदिति का पिता था। इसलिए उसका दूसरा नाम 'आदित्य भी था'' आदित्य' शब्दके अर्थ हैं—निस्सीम दृग्गोचर। जो लोग हिमालयके पूर्व्व से उत्तरकी ओर गये होंगे उन्हें, आगे चलकर उक्त पर्व्वतकी ऊँचाईके कारण, अवश्य रुकना पड़ा होगा। इधर दक्षिणकी ओरसे भी लोगोंके झुण्डके झुण्ड आते रहे होंगे। उस समय, दक्षिणही विस्तृत दिशा रही होगी और वहीं लोगों का निवास भी अधिक रहा होगा। इसीके प्रत्यक्ष किंवा दृग्गोचर,

परन्तु निस्सीम, विस्तारके कारण ही उस समय, उसका नाम 'आदित्य' पड़ा होगा। इसी प्रकार हिमालयकी ऊँचाईके खयालसे 'उत्तर' की, और दक्षिण दिशाके निस्सीमि विस्तारके ख्यालसे 'दक्षिण' शब्दकी सृष्टि हुई होगी।

ग्रीक और लैटिन भाषाओंमें जो शब्द 'दक्ष' से मिलते जुलतेसे हैं उनके वही अर्थ हैं जो, आजकल संस्कृतमें, इस शब्दके होते हैं, परन्तु संस्कृतके 'दक्षिण' और जन्द भाषाके 'दर्शन' शब्दके वही अर्थ हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

'पूर्व्व' शब्दके अर्थ ये हैं—'पहला'—'पहले का और 'भूतकाल का यह शब्द 'नूतन' शब्द का प्रतिकूलार्थवाची है। 'पूर्व्व' और 'नूतन' का प्रयोग ऋग्वेदके पहिले सूक्तकी दूसरी ही ऋक्में हुआ है। इससे इन दोनों शब्दों का अन्तर अच्छी तरह प्रकट होता है। 'पश्चिम' से इसका अर्थ है 'पुराना'। अब यदि हिमालयके उत्तर पूर्व में रहनेवाले लोग ही भारतके उत्तरी भागमें निवास करने वाले वैदिक ऋषियोंके पूर्वज रहे होंगे, तो उनका उत्तरमें बस कर पूर्व' और 'पश्चिम' दिशाओंके नाम रखना सर्वथा सार्थक था।

यदि यही मान लिया जाय कि दिशाओं के नाम सूर्य्य की गति के अनुसार ही रक्खा गया होगा, तो, फिर 'उत्तर' शब्द की ठीक व्याख्या नहीं हो सकती, और, साथ ही साथ भारतीय लोगों के निर्दिष्ट किये हुए दिशाओं के नामों से उन जातियों की दिशाओंके नामों में कोई समानता नहीं पाई जाती जिनका प्राचीन सम्बन्ध हिन्दुओं से बतलाया जाता है। कृष्ण यजुर्वेदमें लिखा है।:—

प्राचीनवंश करोति देवो मनुष्या दिशो व्यभजन्त ।
प्राचीं देवा दक्षिणां पितरःप्रतीचीं मनुष्या उदीचीं रुद्रः ॥

इससे प्रकट है कि प्राचीन लोग दक्षिण-दिशा ही से आगे बढ़े थे। पूर्व में देवताओं का वास था। वे लोग जाकर उनसे मिले। फिर जो निरे मनुष्य ही थे वे पश्चिममें सुख भोगने के लिये गये। उत्तर भी भीषण रुद्र का राज्य था। ये सब बातें पूर्वोक्त सिद्धान्त को अच्छी तरह पुष्ट करती हैं।

ये तो हुईं मजूमदार महाशय की युक्तियां। अब उनके मत के विरोधी श्रीयुक्त रामचन्द्र के० प्रभु की बातें भी, संक्षेप में सुन लीजिए:—

मजूमदार महाशय का मत है कि भारतीय आर्य्य कहीं बाहर से नहीं आये। सबसे बड़ी दलील जो वे अपने इस मत की पुष्टि में पेश करते हैं वह यह है कि जिन अन्य देशों में भी उन्हीं दिशाओं का मतलब लिया जाता है जिनके वे भारत में बोधक हैं। पारसियों के प्राचीन ग्रन्थ अवस्ता में 'पूर्व' शब्द का अर्थ है— 'पहला' अथवा 'सब से पहिले'। पारसी लोग हिन्दुओं की तरह सूत्र धारण करते हैं। वे लोग सूत्र को 'कुश्ती' कहते हैं। कुश्ती के उत्सव मे ज़न्द-अवस्ता का एक मन्त्र पढ़ा जाता है, जिस में "यौव्वीनीम" शब्द आता है। विद्वान लोग इस शब्द का अर्थ 'पहला' ही करते हैं। प्राचीन पारसी भाषा में 'पर परवा, पर्वा, परवीज, पौर्य्य, पौर्य्यनी आदि कितने ही शब्द हैं जिनसे ताराओं का अर्थ किया जाता है, परन्तु उन्हीं ताराओं का जो सूर्य्य मण्डल

में 'प्रथम' अर्थात् श्रेष्ठ समझे जाते हैं। संस्कृत के 'पूर्व' शब्द से इन शब्दों का घनिष्ट सम्बन्ध मालूम पड़ता है।

मजूमदार महाशय स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'दक्षिण' का जन्द रूप 'दाशिन' है। वे यह भी मानते हैं कि लैटिन और ग्रीक भाषाओं के इन शब्दों के अर्थ, प्राचीन काल में, वही रहे होंगे जो इस समय संस्कृत में थे? रोमन ग्रीक, ड्रूइड आदि योरोप की प्राचीन जातियों में प्रदक्षिणा की प्रथा जोरों पर थी। प्राचीन गौलिक भाषा में इस प्रथा को "डीजिल" और रोमन भाषा में 'डेक्सट्रेटिस' कहते थे। 'डीजिल'शब्द की धातु गीज़ के अर्थ हैं— 'दक्षिण' तथा 'दक्षिण दिशा'। प्राचीन आयरिश शब्द 'डेस, वेल्श शब्द 'डेहौ, लैटिन शब्द 'डेक्स्टा' ग्रीक शब्द 'डेकिसवस' आदि भी इस अर्थ के बोधक हैं। इन में संस्कृत शब्द 'दक्षिण' का बहुत कुछ सादृश है और इनके अर्थ भी इसके आधुनिक अर्थ से मिलते जुलते हैं।

मजूमदार महाशय का यह कहना भी ठीक नहीं कि प्राचीन आर्य्य दक्षिण से चल कर उत्तरी भारत में पहुंचे। इनके इस कथन का समर्थन किसी भी प्राचीन ऐतिहासिक कथा से नहीं होता। कुरु और पाञ्चाल नाम की आर्य्य जातियां उत्तरीय भारत ही की थीं। वे उत्तर कुरु और उत्तर-पाञ्चाल के नामसे ही पुकारी जाती थीं। उपनिषदों से यही पता चलता है कि उत्तर-कुरु जाति का निवास हिमालय पर्व्वत माला के उत्तर में था। ऋग्वेद में 'पूर्व्व-देव' शब्द है। जिस मन्त्र में यह शब्द आया है उसका

अथ है—"पूर्व्वी देवों ने पाश्चात्य देवों की रीति का अनुसरण किया, जिससे वे समृद्धिशाली हो गये"। भाष्यकारों ने पूर्व्व देव, का अर्थ 'असुर' किया है। अमर-कोश के रचयिता ने भी इस संयुक्त शब्द के यही अर्थ किये हैं। इससे स्पष्ट है कि पूर्व्व में असुरों का निवास था, जिन्होंने पश्चिमी देवों से सभ्यता सीखी। जब पूर्व्व में असुर रहते थे तब मजूमदार महाशय का यह कहना कैसे मान लिया जाय कि भारतीय आर्य्य पूर्व्वसे पश्चिम की ओर गये।

सूर्य्य की गति के अनुसार ही दिशाओं के नाम रक्खे गये थे। यह बात ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ९५, मन्त्र ३ से स्पष्ट है:—

पूर्व्वामनुप्रदिशं पार्थिवानामृतून् प्रशासद्विद-धावनुष्ट।

अर्थात्—ऋतुओं की रचना करके वह (सूर्य्य) पृथ्वी की पूर्वादि दिशाओं की रचना करता है। अतएव मजूमदार महाशय की कल्पना समीचीन नहीं जान पड़ती।

नवंबर के माडर्न-रिव्यू में मजूमदार महोदय ने प्रभू महाशय की इस खण्डनात्मक अलोचना पर एक नोट प्रकाशित कराया है। उसमें आपने प्रभू महाशय के कोटि-क्रम का विरोध न करके केवल इतना ही लिखा है कि ईरानियों के विषय मे भी आपने एक लेख लिखा है। यदि वह प्रकाशित हो जाता तो प्रभु महाशय को अपना लेख लिखने का कष्ट न उठाना पड़ता। परन्तु अस्वस्थता के कारण वे अब तक उसे प्रकाशित नहीं कर सके। आप के इस कथन से सूचित होता है कि ईरानियों के विषय में अपना मत प्रगट करके आप अपनी कल्पना का सामञ्जस्य सिद्ध करने के लिये तैयार है।



आर्य्यों का आदिम-स्थान



पूना के "केसरी" नामक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र के सम्पादक पंडित बाल गङ्गाधर तिलक, बी० ए० एल-एल० बी० को लोग जितना उनकी विद्वत्ता के कारण जानते हैं उससे अधिक उनको उनके दुर्भाग्य के कारण जानते हैं। जब पहले पहल "केसरी" का जन्म हुआ था तभी एक मान-हानि के मुक़दमे में फँसने से उनको कई महीने कारागार-वास करना पड़ा था। १८९७ ईसवी में "शिवाजी के उद्गार" शीर्षक कविता प्रकाशित करनेपर उनके ऊपर जो आपत्ति आई उससे उनका नाम प्रायः सारे भारतवर्ष भर ही में नहीं किन्तु विलायत तक में हुआ। इस आपत्ति में कुछ अंश से उद्धार पाने में तिलकजी की विद्वत्ता ही उनकी सहायक हुई। वैदिक साहित्य के वे अगाध पंडित हैं, दूसरे देशों के साहित्य में भी उनकी पारदर्शिता कम नहीं है। इस विपत्ति के पाँच सात वर्ष पहले उन्होंने "आरोयन" (Orion or researches in the Antiquity of the Vedas) नामक एक पुस्तक लिखी थी। आरोयन का अर्थ है "अग्रहायण"। इसमें उन्होंने वैदिक मन्त्रों की प्राचीनता प्रतिपादन की है, और ईसा के ६००० वर्ष पहिले की बातें उन्होंने वेद से सिद्ध की हैं।

इसी पुस्तक पर लुब्ध होकर अध्यापक मोक्षमूलर ने उनको

जब वे पूर्वोक्त विपति में पड़े थे, तब अपना सम्पादित किया हुआ ऋग्वेद भेजा और उनकी सिफ़ारिश महारानी विक्टोरिया तक से की इसके कुछ ही दिन पीछे ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इनको आपत्ति मुक्त कर दिया। परन्तु तिलक महाशय के समान दुर्दैवग्रस्त शायदही कोई दूसरा मनुष्य हो। एक के अनन्तर एक आपत्ति उनको घेरे ही रहती थी। इस समय भी वे एक वसीयतनामे के झगड़े में फँसे हैं। इसी लिए हम कहते हैं, कि उनकी विद्वता के कारण उनको विद्वान ही विशेष जानते हैं, परन्तु दैवदुर्विपाक-जनित उनकी आपदाओं के कारण उनको सभी जानते हैं।

विद्वानोंका पहिले यह अनुमान था कि ऋग्वेद के प्राचीन से प्राचीन मन्त्र कोई ३,००० वर्ष से अधिक पुराने नहीं हैं। परन्तु "आरोयन" में तिलक महाशय ने यह सिद्ध कर दिखाया कि वैदिक ऋचाओं की रचना ईसा के ४,५०० वर्ष पहले और ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना ईसा के २,५०० वर्ष पहले ही हो चुकी थी। उनके मत में वेद और ब्राह्मण इससे अधिक पुरानी नहीं हैं। उन्होंने लिखा है कि वैदिक-काल में वासन्तिक विषुवत (वसन्त ऋतु का अहोरात्र-समत्व) अग्रहणी संक्रान्ति में हुआ करता था, परन्तु ब्राह्मण-काल में वही कृत्तिका में होने लगा था। इसी प्रमाण पर उन्होंने वेद और ब्राह्मणकाल का पूर्वोक्त अनुमान किया है। योरप और अमेरिका के विद्वानों ने पहले यह सिद्धान्त स्वीकार न किया, परन्तु उन्होंने जब विशेष गवेषणा की तब उनको भी "अरोयन" के सिद्धान्त पर विश्वास आने लगा। इसका

फल यह हुआ कि वेदों की अधिक प्राचीनता सिद्ध हुई। यहाँ तक कि अमेरिका के बोस्टन विश्वविद्यालय के सभापति डाक्टर वारेन ने एक पुस्तक* लिखकर यह अनुमान किया कि मनुष्य जातिका आदिम निवास उत्तरी ध्रुव के आस पास था, और वह हिन्दू तथा पारसियों का स्वर्ग कहलाता था।

तिलक महोदय ने "ओरायन" में जो कुछ कहा है उसकी अनुवृत्ति एक नये अँगरेजी ग्रंथ में उन्होंने की है। उसका नाम है Arctic Home in the Vedes अर्थात् उत्तरी ध्रुव में रहने का वेदों में प्रमाण। यह अभी कुछ ही दिन हुए प्रकाशित हुआ है। इसमें जो बातें कही गई हैं उनके कुछ अंश का अनुमोदन डाक्टर वारन ने पहले से कर रक्खा था जैसा ऊपर कहा गया है। डाक्टर वारन ने यह अनुमान किया था, कि आदिम आर्य्य उत्तरी ध्रुव के आस पास रहते थे। और वही पीछे से स्वर्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु इस बात को सप्रमाण सिद्ध करने का पुण्य तिलक के ही भाग्य में था। यह पुस्तक तिलक की उद्भट विद्वता और सुतीक्ष्ण बुद्धि की उत्कट प्रमाण है। इसको पढ़कर बड़े २ विद्वानों*

---

*Paiadise found on the Cradle of the Human Race at the North Pole.

*इलाहाबाद के म्युअर सेंट्रल कालेज के प्रधान अध्यापक डाक्टर थीबो, तिलक के इस सिद्धान्त को सच्चा नहीं समझते। आपने एक व्याख्यान में ऐसा ही कहा है। परन्तु जब तक डाक्टर साहेब इस सिद्धान्त का प्रमाणपूर्वक खण्डन न करें, तब तक उनका कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ने ग्रन्थकर्ता की सहस्रमुख से प्रशंसा की है। औरों की तो वात ही नहीं "पायनियर" तक ने इसके स्तुति पाठ में अपना एक स्तम्भ खर्च किया है। पहली वार, तिलक के साथ जव उनके मित्र गोपाल गणेश आगरकर, एम० ए०, कारागार-वासी हुये थे तव उन्होंने कारागार ही में एक पुस्तक लिखी थी। सुनते हैं तिलक ने भी वह नई पुस्तक, इस वार, जेल में आरम्भ की थी, और उसकी वहुत कुछ सामग्री उन्होंने वहीं इकट्ठा की थी। वहाँ के कठिन परिश्रम के अनन्तर जो समय उनको मिलता था उसमें वे वैदिक साहित्य से प्रमाण संग्रह करते थे।

असामान्य-बुद्धि-वैभव-शाली पुरुषों की सभी लीलायें असामान्य होती हैं। वड़ी२ आपत्तियों में भी उनका चित्त चञ्चल नहीं होता, उनकी वुद्धि पूर्ववत् वनी रहती है, वे जरा भी धैर्य-च्युत नहीं होते। तिलक महाशय इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

तिलक ने अपनी इस नई पुस्तक में यह सिद्ध किया है, कि आदिम आर्य्य मेरु प्रदेश, अर्थात् उत्तरी ध्रुव, के आस पास ह रहा करते थे। इस अनुमान के सिद्ध करने के लिये उन्होंने वेद से, पारसियो की धर्म पुस्तक अवेस्ता से, और प्राचीन ग्रीक लोगों के यहां प्रचलित गाथाओं से प्रमाण उद्धृत किये हैं। उनके लेखन कौशल उनकी प्रमाण-चयन प्रणाली, उनकी तर्कना-पद्धति को देख कर आश्चर्य्य होता है। उन्हों ने अपने मत को इस योग्यता से प्रतिपादन किया कि उसे स्वीकार करने में वहुत ही कम सन्देह किया जा सकता है। किस अकाट्य युक्ति से उन्हों ने आर्य्यों का

आदिम स्थान उत्तरी ध्रुव में निश्चय किया है, उसका कुछ आभास हम यहां पर देना चाहते हैं। परन्तु उतरी ध्रुव में रहने का नाम सुनते ही आश्चर्य होता है, और इस बात पर विश्वास नहीं आता। जो प्रदेश सर्वथा हिमाच्छन्न, जहां जल और थल में कुछ भी भेद नहीं है, सभी हिममय; जहां डाक्टर नानसेन के दृढ़ से दृढ़ जहाज़ बर्फ़ की चट्टानों से टकरा कर टूटने से बचे, जहां वास। यह बिलकुल ही असम्भव जान पड़ता है, परन्तु यदि मेरु-प्रदेश में आर्य्यों का वास न माना जाय तो वेद के अनेक मन्त्रोंका ठीक २ अर्थ ही नहीं हो सकता। अतएव आज कल के इस बर्फ से ढके हुए देश में किसी समय आर्य्यों का निवास लाचार हो कर मानना ही पड़ता है।

सूर्य्य की गति के हिसाब से पृथ्वी के उत्तरी गोलार्द्ध के निरक्ष-वृत्त से ६६ और ९० अंश के बीच का प्रदेश हिम-मण्डल कहलाता है। यह सदैव बर्फ से आच्छन्न रहता है। लापलैण्ड और साइबेरिया का कुछ भाग इसी मण्डल के अन्तर्गत है। इस में प्रायः लाप जाति के मनुष्य बसते हैं। इस समय वहां जितना शीत पड़ता है, किसी समय, इस से भी अधिक पड़ता था। यहां तक कि बर्फ की नदियां बड़े वेग से बह निकलती थीं। और उसके प्रवाह में पड़ कर देश के देश उजाड़ होकर उनके नीचे दब जाते थे। इस हिम-प्रलय का प्रमाण वर्तमान हाथी का प्रपितामह ममोथ (Mammoth) नामक ऐरावत है। इस समय यह जीव पृथ्वी में नहीं रह गया। परन्तु साइबेरिया में इसके

सैकड़ों अस्थि-पञ्जर बर्फ़ में पड़े हुए पाये गये हैं। किसी २ ऐरावत के शरीर में मांस और चमड़ा भी पूर्ववत पाया गया है। ये जीव हिम प्रवाह के समय प्रवाह में पड़कर ज़मीन में गड़ गये हैं। इसके सिवाय भूगर्भ-विद्या के जानने वालों ने हिम-प्रलय के और भी कई प्रमाणं पाये हैं। इस पहिले प्रलय को हुए न मालूम कित हज़ार वर्ष हुए। इसके अनन्तर और भी कई हिम-प्रलय हुए हैं। इस ऐरावत के दांतों में उसका चित्र भी खोदा हुआ मिला है। चित्र निःसंशयः मनुष्य के ही द्वारा खींचा गया होगा। फिर, मिश्र देश में कोई आठ हज़ार वर्ष की पुरानी कबर मिली हैं। उनके भीतर से पत्थरों के हथियार कई प्रकार के वर्तन और मनुष्यों के सकेश अस्थि-पञ्जर आदि निकले हैं। इन बातों से सिद्ध है कि जो लोग मानव-जाति की उत्पत्ति ईसा के चार ही पांच वर्ष पहिले मानते हैं उनका मत सर्वथा अग्राह्य हैं। ईसा के कम से कम आठ हज़ार वर्ष पहले ही मनुष्यो की सृष्टि हो चुकी थी।

तिलक महाशय, अपनी इस नई पुस्तक में, कहते हैं, कि पूर्वोक्त हिम-प्रलय के समय पुराने आर्य्य हिम-मण्डलको छोड़कर, कुछ दक्षिण की ओर चले आये थे। वहां आनेके कई हज़ार वर्ष पहले वे मेरु-सन्निहित देश (Artic Region) अर्थात् उत्तरी ध्रुवके निकट रहते थे। उस समय उस प्रदेश में चिरकाल शरद ऋतु रहती थी। जब शीतका आधिक्य अर्थात हिम-प्रलय हुआ तब उन्होंने वह देश छोड़ दिया। हिम-प्रलय होनेपर मेरु-प्रदेश

मानव-जातिके रहने योग्य न था। आर्य्योंके दक्षिण की ओर चले आने पर, फिर भी हिमके कई खण्ड प्रलय हुए। इस कारण आर्य्यों को धीरे २ वह देश भी छोड़कर और नीचे, दक्षिण की ओर बढ़ आना पड़ा। तिलकके मतमें अन्तिम हिम-प्रलय हुए १०००० वर्ष हुए, और कोई ६००० वर्ष ईसाके पहले आर्य्य-गण मध्य एशिया में रहने लगे थे।

श्रीमान तिलकने आर्य्योंके मेरु-प्रदेशमें रहने का जो सिद्धान्त निकाला है उसके अब संक्षिप्त प्रमाण सुनिये

वेद के उत्तरी-ध्रुव सम्बन्धी जो बातें हैं वे तो हैं ही, पारसियों की धर्म्म पुस्तक अवेस्तामें यह बात अधिक स्पष्टता से लिखी है कि "एरायन वायजो" (Airyana Vaejo) अर्थात आर्य्यों का स्वर्ग-लोक एक ऐसे प्रदेश में था जहां वर्ष में एकही बार सूर्योदय होता था, इस स्वर्गलोक को बर्फ की वर्षा ने नाश कर दिया, इस लिए उसे छोड़कर आर्य्य लोग दक्षिण की ओर चले आये। वेद और अवेस्ता के कितने ही वचन इस बात की साक्षी देते हैं, कि हिम-प्रलय के पहले मेरुप्रान्त में बहुत कम जाड़ा पड़ता था। वहां एक प्रकार का सदा वसन्त रहता था। स्पट्ज़बर्गयनके समान स्थानों में, जहां, इस समय नवम्बर से मार्च तक, सूर्य्य क्षितिज के नीचे रहता है, उस समय ऐसे लता-पत्र और घास-पात उगते थे जो आज कल न बहुत सर्द और न बहुत गर्म जल-वायु वाले देशों में ही होते हैं। इसके सिवा खगोल-विद्या-विषयक कुछ बातें ऐसी हैं जो मेरु-प्रदेशमें एक विशेष रूपमें पाई जाती हैं।

इन विशेष बातों का उल्लेख यदि वेद में मिले तो उससे वह निर्विवाद सिद्ध हो जाय कि वैदिक ऋषि उस प्रदेश से परिचित थे और उनके पूर्वज, किसी समय वहां रहते थे।

उत्तरी ध्रुव में आकाश-मण्डल सिरके ऊपर घूमता हुआ जान पड़ता है। वह उत्तरी ध्रुव की खगोल सम्बन्धिनी एक विशेष बात है। उसका वर्णन वेदो में विद्यमान है। उनमे आकाश के घूमने की उपमा चक्के (पहिए) से दी गई है, और लिखा है कि यह दिव्य मण्डल मानों एक धुरीके ऊपर रक्खा हुआ घूम रहा है।

इन्द्राय गिरो अनिशित सर्गाः अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात ।
ये अक्षेणेव च क्रिया शचीभिर्विष्कतस्तम्भ पृथिवीमुनधाम ॥
(ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ८६, मन्त्र ॥४॥)

इसमें यह कहा गया है कि इन्द्र अपनी शक्ति से पृथ्वी और आकाश को इस प्रकार अलग अलग थामे हुए है जैसे गाड़ी के दोनो चक्कोंको उसका धुरा थामे रहता है। तिलक का कथन है कि आकाश का चक्रवत् भ्रमण मेरु प्रदेश की अवस्था का सूचक है इस देश के संस्कृत-साहित्य में यह बात ठौर २ पाई जाती है कि देवताओं का दिन-रात छः महीने का होता है। यह बात पुराणों में भी लिखी है, महाभारत में भी है, और ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थोंमें भी है। पुराने ज्योतिषियो ने मेरु पर्वत को पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव माना है, और सूर्य्य सिद्धान्त में लिखा है—

मेरौ मेपादि चक्राधे देवाः पश्यन्ति भास्करम् ।

अ०१२, श्लोक ६७

अर्थात मेरु में मेषादि चक्रार्द्धगामी सूर्य को देवता सदा देखते ।

यदि आर्य्यों के पूर्वज कभी उत्तरी ध्रुव में रहते थे तो उनके देवता भी निःसन्देह वहीं कहीं रहते रहे होंगे। प्राचीनों पर नवीनों की विशेष श्रद्धा होती है। इस समय हम लोग प्राचीन ऋषि मुनियों को देवताओं से कम नहीं समझते। अतएव सर्वथा सम्भव है, कि वैदिक आर्य्यों ने अपने पूर्वजों को देवता माना हो। अब मनुस्मृति का एक प्रमाण सुनिए—

दैवे राज्यहनी वर्ष प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगमनो रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम्॥

अ० १ श्लोक ६७

अर्थात मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं के एक दिन-रात के बराबर है। इन दोनों का फिर इस प्रकार विभाग किया गया है—सूर्य का उत्तराभिमुख गमन दिन है और दक्षिणाभिमुख गमन रात। महाभारत में तो सुमेरु का ऐसा अच्छा और स्पष्ट वर्णन है। वनपर्व में १६३ और १६४ अध्यायों में अर्जुन के सुमेरु पर्वत पर जाने का विस्तृत वर्णन है। वहां लिखा है।

एवं त्वहरहर्मेरु सूर्याचन्द्रमसौ ध्रुवम।
प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन॥
ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघ सर्वतः।
परियान्ति महाराजा गिरराज प्रदक्षिणम्॥

अ० १६३, श्लोक ३७-६८

सूर्य्य और चन्द्रमा प्रति दिन बाईं से दाहिनी ओर को, सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हैं, तारागण भी ऐसा ही करते हैं। थोड़ी दूर पर फिर लिखा है।

स्वतेजसा तस्य नगोनमस्य मरोपधानाञ्च मथा प्रभावात्।
विभक्त भावो न बभूव कश्चिदहोनिशानां पुरुष प्रवीर॥
अ० १६४ श्लोक ८

अपनी दीप्त और महौपधियों से सुमेरु पर्वत अन्धकार को यहां तक जीत लेता है कि रात और दिन का भेद ही नहीं रह जाता है। आगे लिखा है—

× × ×

बभूव रात्रिंदिवसश्च तेषां सम्वत्सरेणेव तमानरूपः॥
अ० १६४० श्लोक १३

वहां के रहनेवालों का रात-दिन मिला कर हम लोगों का एक वर्ष होता है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि महाभारत के समय उसके रचयिता को उत्तरी-ध्रुव का ठीक २ ज्ञान था। सुमेरु की दीप्त का जो उल्लेख है उससे, बहुत करके, मेरुज्योति (Aurora Borealis) से अभिप्राय है। यह ज्योतिर्माला उत्तरी ध्रुव में ही देख पड़ता है। ये बातें ऐसी हैं जो ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धिनी गणना अर्थात् गणित, द्वारा नहीं जानी गई होंगी, क्योंकि उस समय ज्योतिप-विद्या की इतनी उन्नति नहीं हुई थी। बिना आंख से देखे, अथवा जिसने देखा है उससे सुने, इनका इतना विशुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में तो स्पष्ट लिखा है कि जिसे हम वर्ष

कहते हैं वह देवताओं का एक दिन है (३, ९, २२. १) पारसियों की अवेस्ता में ठीक एक ऐसा ही उक्ति है।

उत्तरी ध्रुव में चैत्र से भादों तक अविराम दिन रहता है, और आश्विन से फाल्गुन तक अविराम रात रहती है। यह ९० अक्षांश की बात है। यहां, रात के आराम और अन्त में ५२ दिन तक, बराबर उषः काल रहता है। ८६ अक्षांश से नीचे के भू-भाग से क्रम २ से इस परिणाम में अन्तर पड़ता जाता है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि जहां ६ महीने रात रहती है वहां मनुष्य कैसे रह सकता है। इसका समाधान बहुत सरल है। पहले तो ऐसे स्थानों में, चार महीने के लगभग तड़का (उषः काल) रहता है। गरमियों में पांच बजे प्रातः काल और सात बजे सायंकाल, जितना उजियाला रहता है उतना ही वहां रहता है। अतएव कोई सांसारिक काम, उस समय, रुक नहीं सकता। फिर जो दो महीने रात रहती है उसमें मेरु ज्योति का बहुत ही मनोमोहक प्रकाश होता है। मेरु-प्रदेश में भ्रमण करने वाले डाक्टर नान्सेन ने मेरु-ज्योति (Aurora Borealis) का बड़ा ही विलक्षण वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि "उसकी शोभा और आभा का वर्णन शब्दों द्वारा किया जाना सर्वथा असम्भव है। वह अन्तर्हित प्रकाशपुञ्ज है। बिना देखे उसकी सुन्दरता का अनुमान मनुष्य को स्वप्न में भी नहीं हो सकता। वह आकाश में नृत्य सा किया करती है। वह कभी २ तेजोमय सर्पाकृति धारण करके सिर के ऊपर भांति भांति के खेल से करती है।" अतएव, रात में जहां ऐसा अलौकिक

प्रकाश होता है वह देश मनुष्य निवास के सर्वथा योग्य समझना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं। डाक्टर नानसेन के अनुसार तो मेरु-प्रदेश के समान रमणीय और देश ही नहीं। फिर जिस समय आर्यगण वहां रहते थे उस समय वहां उतना शीत न पड़ता था। शीत कुछ था अवश्य परन्तु वसन्तु ऋतु का सा। शीत ही के कारण अनुमान होता है, प्राचीन आर्य हवन करने लगे थे।

उनके अग्निहोत्री और हवन-प्रिय होने का यही कारण जान पड़ता है। दीप-दान इत्यादि की प्रथा भी इसी कारण से प्रचलित हुई जान पड़ती है। दीपक का उपयोग रात ही में होता है। दिन मे किसी देवता को दीप दिखलाना और न दिखलाना बराबर है।

प्रति वर्ष विषुव-वृत्त से उत्तर ओर २४ अंश और दक्षिण के ओर भी उतने ही अंश तक सूर्य का आवागमन होता है। वैदिक काल में जब विषुव-वृत्त से उत्तर को जाता है तब उसे उत्तरायण संज्ञा प्राप्त होती है; और जब वह उस वृत्तिसे दक्षिणको गमन करता था तब वह दक्षिणायन कहलाता था। इसी उतरायणका नाम वेद में देवयान और दक्षिणायनको पितृयान है। इस देवयान और पितृयानका ऋग्वेद संहितामे अनेकवार उल्लेख आया है। एक उदाहरण लीजिये। प्र-म पन्था देवयाना अदृश्यन्तमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः-अभूदु केतुरुषसः पुरस्तान्प्रतीच्यागाद धि हर्मेभ्यः॥मं० ७, सूक्त ७६, मन्त्र २ अर्थात् देवयान मार्ग हमको देख पड़ने लगा; उपाका केतु (पताका पूर्व दिशामे उदित हो गया। देवयान का उल्टा पितृयान है; उसका भी उल्लेख ऋग्वेद में है, यथाः—

परं मृत्यो अनुपदे हि पन्था यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मने शृरावते ते ब्रीमि मान : प्रजां रीरिषो मोत वीरान्

मण्डल १० सूक्त १८ मन्त्र १

इसमें "देवयानान् इतर:" इन शब्दों से पितृयान अर्थ लिया गया है क्यों कि देवयान का उल्टा पितृयान ही हो सकता है। यहां पर पितृयान मृतु का मार्ग माना गया है। जब देवयान का आरम्भ उषा अर्थात प्रातःकाल से होता था, तब पितृयानका आरम्भ सायङ्काल से होना ही चाहिए। इस लिये तिलक महाशय का अनुमान है कि देवयान से वैदिक ऋषियों का आशय दिन और पितृयान से रात का था। इन दो भागों में, उस समय, वर्ष विभक्त था। यह लक्षण मेरु-प्रदेश में तब भी पाया जाता था और अब भी पाया जाता है। पारसियों के धम ग्रन्थमें भी यही बात लिखी है। वहां उसका और भी स्पष्ट वर्णन ह। लिखा है कि "जिसको वर्ष कहते हैं उसको वे लोग एक दिन मानते हैं। वहां पर चन्द्र सूर्य्य आदि वर्ष में एकही वार उदित और अस्त होते हैं" और एक दिन एक वर्ष के समान जान पड़ता है।" इससे अधिक स्पष्ट मेरु प्रदेश का वर्णन और क्या होगा ? दक्षिणायन सूर्य हीका नाम पितृ-यान है। पितृयान में मरना अशुभ माना गया है, इसलिये भीष्म शरशय्या पर वहुत दिन तक पड़े २ मरने के लिये, देवयान की प्रतीक्षा करते रहे। पितृयान में बराबर ६ महीने तक रात रहती थी। रातमें मृतकों का दाह कार्य अच्छी तरह नहीं हो सकता

इसी लिए इस कालमें मरना बुरा माना गया है। इससे हजारों वर्ष की पुरानी रूढ़िका चिन्ह अब तक, इस देशमें, विद्यमान है। अब यहां यद्यपि केवल १२ घण्टेकी रात होती है, तथापि रातमें चिता-दाह नहीं होता। यह रीति उसी प्राचीन वैदिक रीतिकी सूचक है।

वैदिक साहित्य में लम्बी उषाओं का भी वर्णन है। जैसे पहले हम एक जगह लिख आये हैं। उत्तरी ध्रुव में लगभग दो महीने तक उषा अर्थात प्रातः काल रहता है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि "गवायमयनम्" सत्रमें होता। हवन-करने वाला उषः काल रहते २, एक हजार ऋक पाठ करता था। आश्वलायन और आयस्तम्भ ने तो यहां तक कहा हैं कि सूर्योदयके पहले ही वे ऋग्वेद के समग्र दश मण्डलों की आवृत्ति करेंगे। इससे सिद्ध है कि उस समय बहुत देर में सूर्योदय होता था। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ७६ वीं सूक्त के अन्तर्गत तीसरे मन्त्र में लिखा है-"सूर्योदय के पहले बहुत दिन थे; उन दिनों में हे उषा, तुम सूर्य की ओर जाती थी"। यहां पर देखिये, बहुत काल-व्यापिनी उषा का स्पष्ट उल्लेख है। ऐसी उषा केवल उत्तरी ध्रुव में होती है; अन्यत्र नहीं।

जैसे प्रमाण ऊपर दिये गये हैं वैसे अनेक प्रमाण तिलकने अपने अपूर्व-पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ में दिये हैं। वेदों से, ब्राह्मणोंसे, पुराणों से ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थोंसे, पारसियोंके धर्म ग्रन्थसे और ग्रीक लोगों की प्राचीन गाथाओं से उन्होंने ऐसे अनेक वचन उद्धृत किये हैं जिनसे निर्विवाद सूचित होता है कि किसी समय हम लोगों के पूर्वज मेरु प्रदेशमें रहते थे। यही नहीं, भूगर्भ विद्या

के अखण्डनीय सिद्धान्तों द्वारा उन्होंने यह भी प्रायःसिद्ध कर दिया है कि मानवसृष्टि का आरम्भ हुए अनन्त काल व्यतीत हुआ; पहले हम हिम-प्रलय के पूर्व प्राचीन आर्य्य उत्तरीय ध्रुवके ठीक आस पास रहते थे : और अन्तिम खण्ड-प्रलय हुये कोई१०००० वर्ष हुए।

यहां पर एक शङ्का होती है कि यदि आदिम-आर्य्य मेरु-प्रदेश में रहते थे ; और वेदों में जो आकाश-मण्डल, चन्द्र-सूर्य, दिन रात और उषा आदि का वर्णन है वह यदि उसी प्रदेश का है, तो उन्हो ने वेद में कहीं इस बात का उल्लेख क्यों नहीं किया! विचार करनेका विषय है कि हम लोगों को जब सौ पचास वर्ष की बात स्मरण नहीं रहती ; जब हम, इस समय भी, इतिहास की बड़ी २ घटनाओं का भूल जाते हैं, जब हम अपने पूर्वजों के नाम तक कभी २ नहीं बतला सकते! तब यदि हजारों वर्ष पहले के अपने निवास-स्थान को आर्य भूल जावें तो क्या आश्चर्य्य है? फिर, वे एक प्रकार से भूले भी नहीं। वंशपरम्परा से जो कुछ उन्होंने सुन रक्खा था उसे उन्होंने वैदिक साहित्य में सन्निविष्ट भर कर दिया। देवरूपी अपने पूर्वजों के दिन रात, और सायं प्रातः आदि का थोड़ा बहुत वर्णन करने में वे नहीं चूके।

हजारों वर्ष से हम लोग वेदाध्ययन करते आये हैं; परन्तु उनके अध्ययन द्वारा आर्य्यों के आदिम स्थान का पता, आज तक, कोई नहीं लगा सका। उसका श्रेय तिलकके लिये था; वह उनको आज प्राप्त हुआ। यदि इस बात का प्रमाणकर्त्ता कोई विलायती

पंडित होता तो उसकी कीर्ति न जाने कहां २ अब तक फैल गई होती। माननीय तिलक इस अर्द्धशिक्षित हिन्दोस्तान के वासी हैं; इस लिये उनका यश उतना शीघ्र न प्रसारित होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होने अपनी तीव्र बुद्धि और गम्भीर गवेषणा से एक ऐसे ऐतिहासिक तत्व का पता लगाया है कि जो कोई उनके ग्रन्थ को पढ़ेगा वह अवश्य उनकी प्रशंसा करेगा। उनकी पुस्तक को पढ़ कर उनके प्रकाण्ड परिश्रम का विचार करके, पढ़ने वाले के मन में एक अपूर्व भक्ति-भाव उदित होता है। ऐसे अनेक वैदिक मन्त्र हैं जिनका आशय ठीक २ समझमें नहीं आता। परन्तु तिलक महोदय के मत का प्रचार होने पर, उनकी पुस्तक से सम्बन्ध रखने वाले उन मन्त्रों का भाव सहज ही मे स्पष्ट हो जायगा। इस पुस्तक के लिए बहुत कुछ सामग्री पुस्तक-कर्त्ता, ने कारागार में ही एकत्रित कर ली थी। यह उनके और भी प्रशंसाकी बात है। एक प्रकार यह अच्छा हुआ जो उनको राज-दण्ड मिला। यदि ऐसा न होता तो इस अश्रुतपूर्व वैदिक तत्व का उद्घाटन भी न होता। खेद की बात है कि ऐसा प्रकाण्ड पंडित, ऐसे वैदिक-तत्व दर्शी, ऐसे श्रमसहिष्णु ऐसा गवेषणा-धुरन्धर विद्वान बेतरह विपत्ति-जालमें फंसता रहे!



प्राचीन मिश्र में हिन्दुओं की आबादी ।



बहुत लोगों का ख्याल है कि प्राचीन काल के हिन्दू कूपमण्डूकवत् रहना बहुत पसंद करते थे। अर्थात वे अपना घर छोड़कर दूसरे देशों को जानेके बड़े विरोधी थे। फिर यह ख्याल भ्रममूलक है। न्यूयार्क, अमेरिका के ए० डी० मार साहेब ने "इंडियन रिव्यू" में एक लेख लिखा है; उसमें उन्हों ने सिद्ध किया है कि साढ़े तीन हज़ार वर्ष पहले भारत-वासी व्यापार आदिके लिए अन्य देशों में केवल आते जाते ही न थे, किन्तु वे मिश्र में जाकर बस भी गए थे।

मिश्र में सोने की ऐसी बहुत सी खानें हैं जो ईसा के पहले सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में खोदी जाती थीं। उस समय पश्चिमी संसार में कोई देश, आबादी या व्यापार में इतना बढ़ा हुआ न था कि उसको सिक्के चलाने की ज़रूरत पड़ती। असल बात तो है कि इतने प्राचीन समय का एक भी पश्चिमी सिक्का अभी तक नहीं मिला। पुराने से पुराना सिक्का जो मिला है, ईसाके पहले चौदहवीं शताब्दी का है। इसके विरुद्ध इस बातके दृढ़ प्रमाण मिलते हैं कि भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल में भी खानें खोदी जाती थीं और उनसे सोना निकाल कर सिक्के बनाए जाते थे। श्रुति, स्मृति आदि भारत के प्राचीनतम कालके साहित्यमें भी अनेक प्रकार के सिक्के के नाम आते हैं। यहां आबादी

और व्यापार बढ़ाने के साथ साथ सिक्कों और गहनों आदिके लिए सोनेकी मांग भी अवश्य ही बढ़ गई होगी। सम्भव है, यहां काफ़ी सोना न मिलने से भारतवासी मिश्र की खाना से सोना लाकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करते रहे हों।

इस बातके सबूत मिलते हैं कि मिश्रमें पहले पहल लंकानिवासी समुद्रके रास्तेसे अरब, अबीसीनिया, या एथिओपिया गए। इनके बाद मलाबार, कच्छ, उड़ीसा और बंगाल की खाड़ीके आस पास के रहनेवाले मिश्र में पहुँचे। उत्तरी भारत के निवासी बेक्ट्रिया, सीदीया और एशिया माइनर होते हुए, उन लोगों से बहुत पीछे, अर्थात् ईसाके पहले तेरहवीं शताब्दी में, पहुंचे। यद्यपि मिश्रवालों ने अपने इतिहास में भारतवासियों का ज़िक्र नहीं किया, यद्यपि उन्होंने अपने इतिहास में अपने धर्मशास्त्र और अपनी वंशपरम्परा के स्वतंत्र रूप देनेकी चेष्टा की है तथापि उन प्रत्येक बातसे हिन्दुस्तानीपन टपकता है। पूर्वोक्त मारसाहेब ने बड़ी ही दृढ़ और अकाट्य युक्तियों से यह साबित कर दिया है कि हिन्दू लोग मिश्रमें जाकर बसे थे और उन्हींसे मिश्रवालोंने सभ्यता सीखी।

मिश्रवाले अपने पहले राजा और धर्म-शास्त्रप्रणेता का नाम मीनस बतलाते हैं जो हमारे मनुके सिवा और कोई नहीं। केवल मिश्रवालों ने ही नहीं, किन्तु उस समयके अन्य जातियोंने भी मनुको मनिस, मनस, मनः, मन, मन, मन्नु आदि नामों से अपना व्यवस्थापक माना है। मिश्रवाले कहते हैं कि मनुको हुए कोई ८६८४ वर्ष बीते। रोम और ग्रीस वाले भी अपने एक देवता को इतने ही

खालक्ष पुराना मानते हैं। डियोडोरस और जस्टिन आदि इतिहासकारों का कथन है कि यह देवता भारतवर्षका है।

भारत और मिश्रके प्राचीन सम्बन्धके अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। मिश्रकी एक प्राचीन जाति का नाम "दानव" है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि "दानव" शब्द पुराणों में सैकड़ों जगह आया है। सत्ताईस सौ वर्ष पुराने काल्डिया के शिलालेखों से मालूम होता है कि भारत का व्यापार फ़ारस की खाड़ीमें खूब होता है। ज़िनाफन अपने ग्रन्थमें लिखता है कि ईसा के ६००वर्ष पहले भारत का एलची सीज़र बादशाहके दरबार में गया था। उसके बाद भारत का व्यापार केवल मिश्रही में नहीं किन्तु कार्थेज और रोम तक फैल गया।

बड़े बड़े विद्वानों का कथन है कि भारतवर्षने साढ़े तीन हज़ार वर्ष पहले ज्योतिषमें खूब उन्नति कर ली थी। मिश्रने सैकड़ों वर्ष पीछे भारतवासियों ही के द्वारा ज्योतिष में ज्ञान प्राप्त किया। इस बात को डूपस नामक एक फ्रेंच विद्वान ने बड़ी अच्छी तरह सिद्ध किया है।

मिश्र की इमारतें और गुफा मन्दिर सब हिन्दोस्तानी ढंग के हैं। यही क्यों, एक साहेब की तो यह राय है कि आयरलैंड के बुर्ज भी हिन्दोस्तानी काट छांट के हैं।

मिश्र की कोई साढ़े तीन हज़ार वर्ष पुरानी कबरों में नील, इमली की लकड़ी और ऐसे ही अन्य कई चीज़ें मिली हैं जो केवल भारत-वर्ष में पैदा होती हैं। यूफ्रेटिस नदी के किनारे मबेर

नामक स्थान पर एक कब्र में सागौन की लकड़ी पाई गई है। यह ५२०० वर्ष की पुरानी साबित हुई है। स्मरण रहे कि सागौन के पेड़ हिन्दोस्तान के सिवा दुनिया में और कहीं नहीं होते। इतिहास का यह मत है कि प्राचीन समय में मिश्र, रोम,ग्रीस और एशिया-माइनर में ऐसी बहुत सी औषधियां और वनस्पतियां काम मे आती थीं जा केवल हिन्दोस्तान में उत्पन्न होती हैं।

प्राचीन भारत के सिक्कों के नाम भी मिश्र आदि कई पश्चिमी देशों मे प्रचलित थे। जैसे माशा, सिकल, (सिक्का) दीनारस (दीनार) आदि वहां के तौल, नाप के बांट आदि भी हिन्दोस्तान् ही के समान थे। सबसे बढ़ कर विचित्र बात यह है कि यहां का रुपया इसी नाप, तौल और रूप में प्राचीन मेक्सिको में प्रचलित था।

प्राचीन मिश्रवाले हिन्दोस्तानियों ही के वंशज थे। मार्टन नाम के एक साहेब ने अपने ग्रन्थ में एक जगह लिखा है कि मसाला लगे हुए मुर्दों की सौ में अस्सी खोपड़ियाँ आर्य्य जाति की थीं। भारत के समान मिश्रवाले भी कई वर्णो में विभक्त थे।

एपीनस और ह्लीनी आदि इतिहास-लेखकों का कथन है कि लौकी, नारंगी, इंजीर, नाशपाती, चावल और लोद्ध आदि कई चीजें भारत से मिश्र आदि देशों में गईं।

मिश्र की बहुत सी जगहों के नाम-जैसे नील, शिव, एलीफेंटा और मेरु-आदि बिल्कुल भारतवर्ष की नकल है। मासी साहेब ने अपनी एक पुस्तक के परिशिष्टमें ऐसे ५६० शब्द दिये हैं जो संस्कृत

C
6129

और मिश्री, दोनों भाषाओं में, एक ही व्यवहृत हैं।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि प्राचीन काल में भारतवासी मिश्र में जाकर अवश्य आबाद हुए थे और इन्ही से मिश्रवालों ने सभ्यता सीखी।



वाली-द्वीप में हिन्दुओं का राज्य।



भारत-महासागर और प्रशान्त महासागर जहाँ पर मिलते हैं वहीं सुमात्रा, जावा आदि वहुत से द्वीप हैं। किसी समय इन द्वीपों में हिन्दुओं का राज्य था। संस्कृत-भाषा और हिन्दू-धर्म ने यहां पर अपना अटल प्रभाव जमा लिया था। इस वात के यहाँ सैकड़ों चिन्ह पाये जाते हैं। चौदहवीं शताब्दी में मुसल्मानों के आक्रमण के वाद इन द्वीपों में हिन्दुओं का प्रभाव घटने लगा। धीरे धीरे हिन्दू-धर्म, हिन्दू-राज्य और संस्कृत-भाषा का यहाँ लोप हो गया। इन द्वीपों के अधिकांश अधिवासी मुसलमान हो गये। परन्तु जो लोग अपने धर्म को अपनी जान से अधिक प्यारा समझते थे वे मुसलमान-संसर्ग-दूषित वड़े वड़े द्वीपों को छोड़ कर छोटे छोटे टापुओं में जा वसे। वाली, लम्बक आदि द्वीप इसी प्रकार के छोटे टापुओं में हैं। इन टापुओं में अव भी हिन्दू-धर्म और हिन्दू-राजाओं का राज्य है।

वाली और लम्बक-द्वीप जावा के पूर्व हैं। यों तो यहां पर सैकड़ों छोटे छोटे द्वीप हैं, पर हिन्दुओं का राज्य केवल इन्हीं दो द्वीपों में वाकी रह गया है। जिन लोगों ने इन दोनो द्वीपों को देखा है उनका कथन है कि ये द्वीप प्राकृतिक सौन्दर्य्य में अद्वितीय हैं। यहां के नगर और ग्राम संसार के वड़े वड़े सुन्दर,

मनोहर और शोभा सम्पन्न स्थानों से टक्कर ले सकते हैं। वाली की बनावट बड़ी विचित्र है। वह बीच में तो खूब ऊंचा है, पर चारों ओर ढालू होता चला गया है। कहते हैं कि इन दोनों द्वीपों के चारो तरफ का समुद्र सदा तरङ्गसङ्कुल रहता है। वहां अकसर तूफान आया करते हैं। इसलिए जहाज के द्वारा इन टापुओं में जाना बड़ा विपज्जनक है।

वाली और लम्बक द्वीप के आदिम निवासियों को शशाक कहते हैं। उनको पराजित करके हिन्दुओं ने वहां अपना राज्य स्थापित किया। सुनते हैं कि लम्बक द्वीप के कुछ शशाक इस समय मुसलमान हो गये हैं। परन्तु वहां के अधिकांश निवासी हिन्दू ही हैं और उन्हीं का इन द्वीपों में राज्य है। हिन्दू-लोग शशाक-मुसलमानों पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं करते, किन्तु उन लोगों से अच्छी तरह मिलते जुलते हैं। यहां का राज्य यद्यपि राजतन्त्र है, तथापि सर्वसाधारण जन राज शासन से अप्रसन्न नहीं हैं। हां, इसमें सन्देह नहीं कि किसी किसी अपराध का दण्ड बड़ाही कठोर है। इन राज्यों में चोरों को अब भी प्राणदण्ड दिया जाता है। व्यभिचारी (स्त्री पुरुष दोनों ही) बांध कर समुद्र में फेंक दिये जाते हैं। सतीत्व धर्म का इतना अधिक सम्मान किया जाता है कि पता लगते ही असती स्त्रियां तुरन्त मार डाली जाती हैं। एक बार किसी व्यभिचारिणी स्त्री को एक यूरोपियन सौदागर ने अपने यहां रख लिया। खबर लगते ही राजा का दूत साहेब के घर पहुँचा। साहेब और कुलटा एक कमरे में बैठे बात कर रहे

थे। यह देखते ही राज-दूत क्रोध से जल उठा। उसने आव देखा न ताव, म्यान से तलवार निकाल कर उस असती का सिर धड़ से जुदा कर दिया और यह कह कर वहां से चल दिया कि हमारे राजा ने साहेब को ऐसा ही पुरस्कार देने के लिये कहा था।

वाली और लम्बक के निवासियों में जितने हिन्दू हैं वे प्रायः सभी शैव हैं। केवल दो चार बौद्ध हैं। शैव लोग चतुर्वर्ण में हैं। वहां वाले उन्हें अपनी भाषा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, विषिय और शूद्र कहते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये शब्द ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के परिवर्तित उच्चारण मात्र हैं। वाली निवासी चतुर्वर्ण को "चतुर्जन्म कहते हैं। उच्च जाति के लोग नीची जाति की कन्या के साथ विवाह कर सकते हैं, परन्तु उन्हें अपनी कन्या नहीं दे सकते। यदि ऐसा सम्बन्ध कहीं हो जाता है तो उससे जो सन्तान होती है वह वर्णसङ्कर कहलाती है। असवर्ण-विवाह में कोई बाधा नहीं दे सकता। तथापि ऐसा सम्बन्ध धर्मानुमोदित नहीं समझा जाता। केवल सवर्ण विवाह ही को वे लोग धर्मानुकूल समझते हैं। इस हिन्दू-राज्य में जितने नगर और ग्राम हैं उनमें केवल चतुर्वर्ण ही रह सकते हैं। कुम्हार, धोबी, रंगरेज, चमार और मेहतर आदि नगरों और ग्रामों के भीतर नहीं रह सकते, उनके लिये गांव के बाहर स्थान नियुक्त होता है। वे लोग वहीं रहते हैं। इन सब जातियों को वाली के चतुर्वर्ण चाण्डाल कहते हैं और उन्हें छूते तक नहीं।

इन चतुवर्ण-हिंदुओं में केवल वैश्य और शूद्र ही नाना प्रकार के देवताओं और देवियों की मूर्ति नहीं पूजते। यहां ब्राह्मणों का प्रताप अब भी अक्षुण्ण है और सर्वसाधारण उन्हे भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। क्षत्रिय लोग सेना और विचार-विभाग में काम करते हैं। ब्राह्मण लोग शिखा धारण करते हैं, पर यज्ञोपवीत नहीं पहनते। मन्त्रोच्चारण में ओंकार का व्यवहार प्रचलित है। परन्तु वहां वाले उसे "ओंग शिव चतुर्भज"-यह मन्त्र पढ़ते हैं। ये शब्द "ओं शिव चतुर्भुज" का केवल बिगड़ा हुआ रूप है।

वाली-द्वीप के ब्राह्मणेतर हिन्दू खाद्याखाद्य का कुछ भी विचार नहीं करते। वे गो-मांस तक खाते हैं। अन्य पशु-पक्षियों की तो बात ही क्या है। मुर्गी और सुअर का मांस तो वहां वालों का अत्यन्त प्रिय खाद्य है। यह बात वाली के केवल क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों ही की है। वहां के ब्राह्मण निरामिषहारी हैं। उनमें से कोई कोई ऐसे भी हैं जो केवल फल फूल खाकर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। अन्य खाद्य पदार्थ हाथ से भी नहीं छूते।

द्वीपमें भिखारी ढूंढने पर भी नहीं मिलते। यदि कोई मनुष्य कोई साधारण पाप-कर्म करता है तो उसे प्रायश्चित करना पड़ता है। परन्तु प्रायश्चित करने वाले को शारीरिक दण्ड नहीं भोगना पड़ता। गोबर या गोमूत्र भी नहीं खाना पड़ता। किन्तु जब वह अपना प्रियतम खाद्य त्याग करता है तब किसी गुफा में जाकर अज्ञात

बास करता है और ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करता है । तभी उसका प्रायश्चित होता है । वाली और लम्बक में सतीदाह की प्रथा अव भी वर्तमान है । इसे वहां वाले "सत्य" कहते हैं । यह प्रथा क्षत्रियों और वैश्यों में विशेष रूपसे प्रचलित है । यहांके हिन्दू-बाहु विवाह कर सकते हैं । इसलिये यह अकसर देखा जाता है कि एक मनुष्य के मरने पर विधवायें चिता पर जलती हैं । मृत मनुष्य का सत्कार करने की प्रणाली कुछ विचित्र सी है । जब कोई मनुष्य मरता है तब उसी समय वह जलाया नहीं जाता, किन्तु एक मास के बाद उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया की जाती है ।

साधारण आदमियों की अन्त्येष्टिक्रिया जिस तरह की जाती है उस तरह राजा की नहीं की जाती । रानियों की सहमरणरीति भी कुछ भिन्न है । राजा की अन्त्येष्टि-क्रिया समाप्त हो जाने पर उसकी चिताभस्म रख ली जाती है । उसके पांचवें दिन सब रानियां एक निर्दिष्ट स्थान पर इकट्ठी होती हैं । उस समय पटरानी एक गोला फेंकती हैं । यह गोला जहां गिरता है उसी जगह रानियां अपनी अपनी छातियों में छूरियां भोंक लेती हैं । इस तरह उनकी सहमरण क्रिया समाप्त हो जाती है ।

बाली द्वीपमें शाल वाहन का शकाब्द अब भी व्यवहृत होता है । वहां वाले उसे "शकवर्षचन्द्र" कहते है । यहां के शैव लोगोंके पास बहुत सी हस्त-लिखित ग्रन्थ पाये जाते हैं । उनमें से प्रधान ग्रन्थों के नाम उन लोगों की बोली में ये हैं आगम, आदिगम, सारसमुच्चयागम, देवागम, मैश्वरतत्व, श्लोकान्तरागम, गन्यागम इत्यादि ।

वहांके अनेक शास्त्र ग्रन्थ विलुप्त हो गये हैं।

वाली और लम्बक द्वीपके हिन्दू पहले जावा में रहते थे। मुसलमानों के भयसे वे वहां से यदुवाहु नामक राजाके साथ वाली द्वीपमें चले आये। ये लोग जावामें कब और किस सिलसिले से आये थे, यह बात कोई नहीं जानता। हाँ, इतना पता अवश्य लगता है कि कलिङ्गदेश के शैव ... ने जावा में हिन्दू-राज्य स्थापित किया था।

भाषा, धर्म, आचार, व्यवहार आदि सभी बातें देश और काल के भेदसे विभिन्न हो जाती हैं, परन्तु विभिन्न हो जाने पर भी उनमें कुछ २ सादृश्य बना रहता है। वाली द्वीपकी भाषा, धर्म, आचार और व्यवहार में भी उसका परिचय पाया जाता है। इस द्वीप तथा आस पासके अन्यान्य द्वीपों की भाषाके साथ संस्कृतका बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। इस बातको इन द्वीपोंमें जाने वाले सभी लोगोंने स्वीकार किया है।

भारत महासागर के इन दो हिन्दू-द्वीपोंका इतिहास इस समय तिमिराच्छन्न है। इन द्वीपों से हिन्दू लोगोंने कब और किस प्रकार उपनिवेश स्थापन किया। उसका लिखित इतिहास न तो वालीद्वीप ही में मिलता है और न अन्य ही किसी देश में।

यदि यह मान लिया जाय कि शैव लोगों ने यहां उपनिवेश स्थापित किया तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह घटना बौद्ध धर्मके आविर्भाव होनेके पीछे की है। वाली द्वीप में शकाब्द का प्रचलन इस मतको पुष्ट करता है। परन्तु उपनिवेश-स्थापन करनेके पहले

भी हिन्दू लोग इन द्वीपों में प्राचीन काल से आते जाते थे। इस बात के बहुत से प्रमाण पाये जाते हैं। मृतुके बाद एक मास तक शव रखना बहुत पुरानी पद्धति है। बौद्ध धर्मके आविर्भाव होनेके पहिले भी भारत वर्षमें इसका चलन था।

भारतवर्ष की भाषा (संस्कृत) वाली आदि द्वीपों में वहांके असभ्य भाषाओं के मेलसे जिस प्रकार बदल गई है उसी प्रकार भारतके आचार-व्यवहार भी वहां परिवर्तित हो गये हैं: व स्थान,काल और पात्रके भेद से भारतवर्ष ही की विभिन्न प्रदेशोंमें भिन्न भिन्न आचार-व्यवहार और भाषायें प्रचलित हैं तब यदि समुद्र पारके द्वीपोंकी भाषा, आचार और व्यवहार भारत की भाषा, आचार, व्यवहार से कुछ कुछ भिन्न हो जायं तो आश्चर्य ही क्या है ? इस भिन्नताके होते भी भारतवर्षीय हिन्दुओं और वाली आदि द्वीपोंके हिन्दुओंके आचार व्यवहार और भाषामें बहुत कुछ सादृश्य वर्तमान है। जो हो,इसमें सन्देह नहीं कि इन द्वीपोंके हिन्दू-भारतके प्राची: हिन्दुओंके अध्यवसाय की कीर्ति-चिह्न-स्वरूप होकर अब भी उनकी गौरव पताका फहरा रहे हैं।

भारतवर्ष का वैदिक संसर्ग।



अनेक विद्वानों का मत है कि संसार के अन्य देशों के साथ सम्बन्ध त्याग देने और संसर्ग न रखने के कारण भारतवर्ष की जो हानि हुई है वह बहुत बड़ी है। इसकी अवनति का यह एक प्रधान कारण है। कोई भी देश अन्य उन्नत देशों के साथ सम्पर्क रक्खे बिना उन्नति नहीं कर सकता। भारतवर्ष भी इस नियम के बाहर नहीं। अतएव भारतवासी यदि अवनति के गढ़े से निकल कर उन्नति के शिखर पर चढ़ना चाहते हैं तो उन्हें भी, जापानियों की तरह संसार के सम्पूर्ण सभ्य और उन्नत देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। इसी में भारतवर्ष का कल्याण है। जब तक भारतवासी इस ओर ध्यान न देंगे तब तक वास्तविक उन्नति होना दुष्कर है। कारण यह है कि ऊँट जब तक पहाड़ के नीचे नहीं जाता तब तक वह अपने को सब से बड़ा समझता है। यही हाल आज कल भारतवासियों का है। वे कूप मण्डूक की तरह अपने देश की चहार दीवारी के अन्दर बैठे हुए सदा यही सोचा करते हैं कि 'हम चुना दीगरे नेस्त'। परन्तु यह उनकी भूल है। यदि वे अपना घर छोड़ कर बाहर निकलें और यूरप के मैदानों की हवा खायें तो उन्हें मालूम हो जाय कि वे कैसी अधःपतित अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं। इस में उन्हें अपनी

अवनति और यूरोपियन जातियों की उन्नति के कारण भी ज्ञात हो जायँगे तथा अवनतिकारक कारणों को त्यागने और उन्नति कारक उपायों को ग्रहण करने की ओर भी उनकी प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार वैदेशिक संसर्ग से अनेक लाभ हो सकते हैं। यही अनेक विद्वानों का मत है। परन्तु वे उपाय कौन से हैं जिनको अवलम्बन करके भारतवासी विदेशियों से-विशेष कर यूरोपियनों से— सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं, उनसे शिक्षायें ग्रहण कर सकते हैं और अपनी उन्नति कर सकते हैं? इन बातों का विचार लाला हरदयाल, एम० ए०, अध्यापक, स्टेनफर्ड—विश्वविद्यालय, अमेरिका ने माडर्नरिव्यू नाम मासिक पत्र में प्रकाशित अपने एक लेख में अच्छी तरह किया है। उसमें उन्होंने वैदेशिक संसर्ग से लाभ उठाने के जो चार उपायें बताये हैं वे नीचे दिये जाते हैं।

(१) विदेशी भाषायें सीखना अब तक अधिकांश भारतवास विदेशी भाषाओं में केवल अङ्गरेज़ी ही सीखते हैं। यद्यपि इससे इन्हें बहुत लाभ हुआ तथापि वह यथेष्ट नहीं। अब अकेले अँगरेज़ी सीखने से काम न चलेगा। देश के नवयुवकों को चाहिए कि अब वे अङ्गरेज़ी के साथ साथ जर्मन, फ्रेंच, इटेलियन, स्पेनिश आदि अन्य यूरोपियन भाषायें भी सीखें। कारण यह कि इन भाषाओं का साहित्य अंगरेज़ी साहित्य के अपेक्षा बहुत बढ़ा चढ़ा है। फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं में जैसे उत्तमोत्तम और मौलिक ग्रन्थ निकलते हैं वैसे अंगरेज़ी में नहीं। अङ्गरेज़ी मे तो अनुवादों की ही अधिकता रहती है। फिर फ्रांस और जर्मनी आदि ने शिल्प

तथा विज्ञान में जैसी उन्नति की है वैसी इँगलैंड ने नहीं की। फ्रांस और जर्मनी में जितने अधिक आविष्कार करते हैं उतने अन्यत्र नहीं। ये देश संसार की आधुनिक उन्नति की जड़ हैं। इँगलैंड इन देशों से कई बातों में पीछे है। इन देशों को उन्नतिकारक विचारों का केन्द्र कहना चाहिए। अतएव भारतवासी इन देशों में विद्योपार्जन करके बड़ा लाभ उठा सकते हैं। इस काम के लिए आवश्यक है कि वे इन देशों की भाषायें सीखें। अँगरेज़ी भाषा और साहित्य की सहायता से हम लोग जितनी मानसिक उन्नति कर सकते हैं उससे कहीं अधिक उन्नति फ्रेंच और जर्मन भाषा तथा साहित्य की सहायता से कर सकते हैं।

फ्रेंच ऐसी भाषा है जो एक आध देश को छोड़ कर यूरोप के सम्पूर्ण देशों में बोली और समझी जा सकती है। टर्की, इजिप्ट और रूस के शिक्षित अधिवासी उसी प्रकार फ्रेंच भाषा का व्यवहार करते हैं जैसे कि शिक्षित भारतवासी अँगरेज़ी का। परन्तु और देशवासी शायद यह समझते हैं कि अँग्रेज़ी के सिवाय संसार में कोई अन्य भाषा ही नहीं। जब कभी कोई भारत सन्तान फ्रांस के रास्ते इँगलैंड को जाते हैं तब उनकी दशा बड़ी ही करुणाजनक होती है। वे टामस कुक ऐंड सन के आदमियों के हाथ की कठपुतली बने हुए, गूँगों और बहरों की तरह फ्रांस की वीरभूमि को पार कर जाते हैं। वे उस देश का कुछ भी आनन्द नहीं लूट सकते और न उससे कोई लाभ ही उठा सकते हैं। पर फ्रांस की विद्या और विज्ञान—कला और कौशल, उन्नति और सभ्यता तथा

समता और स्वाधीनता का क्रीड़ाक्षेत्र है ।

जर्मनी शिल्प और विज्ञान का केन्द्रस्थल है। जर्मन भाषा में इस विषय के सैकड़ों मालिक और गवेषणा पूर्ण ग्रन्थ निकलते रहते हैं। इँगलैंग के बड़े बड़े विश्वविद्यालयों में जो उत्तमोत्तम ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं उनमें से अधिकांश जर्मन के अनुवाद-मात्र हैं। इसके-सिवा शिल्प शिक्षा में तो संसार का कोई भी शिक्षा देश जर्मनी का मोकावला नहीं कर सकता। पर शोक है कि हमारे देश के निवासी इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते। वे अँगरेजी के रंग में वेतरह रँगे हुए हैं। इँगलिश और इँगलैंड के सिवा वे कुछ जानते ही नहीं। जो महाशय एक बार भी इँगलैंड हो आते हैं वे बड़े भारी नेता समझे जाते हैं। केवल यही नहीं कि लोग उन्हें वैसा मानते हैं, किन्तु वे खुद भी अपने को महाराजनीतिज्ञ और सुधारक मानने लगते हैं, चाहे वो जानते कुछ भी न हों। हमारे देश वासियों का ख्याल है कि विलायत के आक्सफर्ड और केम्ब्रिज् विश्वविद्यालयों से पढ़ कर जो लोग निकलते हैं वे आधुनिक ज्ञान विज्ञान के बड़े भारी आचार्य होते हैं। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। वहां पर जिस प्रकार की पढ़ाई होती है उसे हम सच्ची नहीं कह सकते। अतएव यदि हम लोग आधुनिक ज्ञान और विज्ञान की सच्ची शिक्षा प्राप्त करके अपनी वास्तविक उन्नति करना चाहते हैं तो हमें विद्योपार्जनार्थ पेरिस, वरलिन, जनेवा और रोम को जाना चाहिए। इन में से पेरिस को यदि हम सरस्वती का पीठ-स्थान कहें तो अनुचित नहीं। आज कल कहीं विद्या रूपी सूर्य

का उदय होता है, जिसका प्रकाश धीरे धीरे सारे सभ्य संसार में फैल जाता है। विक्टरहूथगो ने ठीक ही कहा था कि पेरिस वास्तव में भावी सभ्यता का निर्माण गृह है। अतएव हमारे देश के विद्यार्थियों को चाहिए कि घर ही पर फ्रेंच और जर्मन भाषायें सीख कर इन देशों को जायँ। अब केवल इँगलैंड जाने से विशेष लाभ नहीं। भारतवर्ष के अल्पज्ञ ग्रेजुयटों का यह ख्याल बिल्कुल गलत है कि इँगलैंड ही उन्नति की जननी है। वास्तव में इँगलैंग बड़ा ही फिसड्डी देश है। उन्नति करने की उसकी चाल बहुत ही धीमी और आलसियों की सी है।

अतएव फ्रेंच और जर्मन भाषायें सीखना हम लोगों के लिए बहुत ही लाभदायक हैं। परन्तु बड़े अफसोस की बात है कि ऐसी उपयोगी भाषाओं को न सीख कर हम अपना समय फारसी पढ़ने में व्यर्थ गँवाते हैं। भला आज कल के समय में फ़ारसी भारतवासियों को क्या लाभ पहुंचा सकती है? विदेश जाने वाले विद्यार्थियों को संस्कृत सीखने की भी कुछ विशेष आवश्यकता नहीं। हां,अपनी मातृ-भाषा सीखना सब का परम कर्त्तव्य है। अतएव भारत माता के नवयुवक सपूत यदि अपने देश की उन्नति करना चाहते हैं और उनको यूरोपियन देशों के समकक्ष बनाना चाहते हैं तो उन्हें सब ओर से चित्त उठा कर फ्रेंच और जर्मन सीखना चाहिए। इन्हीं भाषाओं की सहायता से उन्हें उन्नति के रहस्य मालूम होंगे।

(२) यूरोपियन विश्वविद्यालयों में विद्याध्ययन। इस प्रकार अपने देशही में विदेशी भाषायें सीखकर भारतीय विद्यार्थियों को फ्रांस,

जर्मनी और स्विटजरलैंड जाना चाहिए। वहां विद्याध्ययन करके वे जितना लाभ उठा सकेंगे उतना इँगलैंड और अमेरिका में नहीं। यही कारण है कि ढेरके ढेर तुर्क, मिसरी, चीनी और जापानी इन देशोंके विश्वविद्यालयों में पढ़ने जाते हैं।

(३) भारतवासियोंके सामाजिक जीवन का सुधार। जब तक भारतवासी उस तरह जीवन व्यतीत करना न सीखेंगे जिस तरह कि संसार के अन्य लोग व्यतीत करते हैं तब तक वे न तो संसार का ज्ञान ही प्राप्त कर सकेंगे और न उन्नति ही कर सकेंगे। हम लोग जब यूरोप जाते हैं तब यूरोपियनोंके घरोंमें अच्छी तरह ठहर सकते हैं। पर जब कोई यूरोपियन भारत में आता है तब हम उनको अपने घरमें नहीं ठहरा सकते। इसका कारण हमारी पुरानी रीति-नीति है। इस रीति-नीति को बहुत लोग अच्छा समझते हैं और कहते हैं कि वह हमारी जातीयता का चिह्न है। पर वास्तवमें रस्मोरिवाज हम लोगों की उन्नतिके प्रधान बाधक हैं। इनके रहते भारत और यूरोप का सम्बन्ध नहीं हो सकता। भारतवर्ष के लोगों को चाहिए कि अब वे हरद्वार या जगन्नाथपुरी जानेके बदले यूरोप के तीर्थ यात्रा किया करें। अब देश की चहारदीवारी के भीतर कूपमण्डूकवत् बन्द रहने तथा प्राचीनताकी पूजा करते रहनेका समय नहीं। संसारके अन्य देश उन्नति की दौड़में बहुत आगे बढ़ गए हैं। यदि भारतवासी अपने आलस्यको त्याग कर उनके बराबर पहुंचने की चेष्टा न करेंगे तो कोई दिन आवेगा जब भारत का नाम संसार में मिट जावेगा। अतएव हम लोगों को चाहिए कि अपना पिछड़ी

पन का अभिमान और पुरानी लकीर पीटने की चाल छोड़ दें और आगे बढ़ी हुई जातियों से मिलजुल कर उन कारणों को जान लें जिनसे वे आगे बढ़ी हैं। यह तभी हो सकता है जब हम यूरोप जायँ, और वहां वालोंसे खूब घनिष्ट सम्बन्ध पैदा करें, और उस कामको तीर्थयात्रासे बढ़कर पवित्र और महत्वपूर्ण समझें। जापानियों की उन्नति भी इसी प्रकार हुई है। उन्होंने जिन प्राचीन रीतियों को हानिकारक समझा उन्हें तुरन्त त्याग दिया और लाभदायक नई रीतियों के ग्रहण करनेमें उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। पुरानी सभ्यताके गन्दे कपड़ोंको उतार कर और नई सभ्यता के स्वच्छ और सुन्दर वस्त्रों को धारण करके जापानियोंने यूरोपियनोंसे मेल जोल बढ़ाया। इस प्रकार वे धीरे धीरे उन्नतिके शिखर पर पहुंच गए। अतएव यदि हमारे देशवासी भी जापान का सा सम्मान पाना चाहते हैं तो उनको भी उन्हीं उपायों का अवलम्बन करना चाहिए जिन्हें जापानियों ने किया था। बिना पुरानी हानिकारक रीतियों को त्यागे और यूरोपियनोंसे मेलजोल बढ़ाये भारत की उन्नति नहीं हो सकती।

(४) समाजतत्व की शिक्षा। हमारे देश की उन्नति के लिए यह बहुत आवश्यक है कि लोग आधुनिक कालके सामाजिक आदर्शों और, आन्दोलनों का ज्ञान प्राप्त करें। हमारे देशवासी आध्यात्म विद्या और धर्म शास्त्र में तो बड़े निपुण हैं; पर समाजतत्त्व के विषय में वे कुछ नहीं जानते। उन्हें जानना चाहिए कि अब आध्यात्मिक और धार्मिक झगड़े का समय नहीं रहा। अब ह

उन उन्नतिशील और गम्भीर भावपूर्ण विचारों का अध्ययन करना चाहिये जो वर्तमान सभ्य संसार में बड़े वेग से अपना काम कर रहे हैं। ये विचार ही भारत के उस रोग के लिए औषधि का काम करेंगे जो उसे दिन पर दिन दुर्बल और दीन हीन बना रहे हैं। भारतवर्ष उस समय तक उन्नति नहीं कर सकता जब तक कि वह यूरोपियन शिक्षा को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर लेगा। अतएव प्रत्येक भारत-संतान का यह परम कर्त्तव्य है कि वह पुराने विचारों और रीतियों को त्याग कर नवीन विचारों और रीतियों को ग्रहण करे। इसी में देश का कल्याण है।

महाशय हरदयाल जी के बताये हुए यही चार अनमोल उपाय हैं।



राजा युधिष्ठिर का समय।



संसार में विचार और विवेचना की वड़ी जरूरत है। विना विवेचना के, विना विचार के, सत्य का ठीक २ अनुसन्धान नहीं हो सकता। यदि किसी ने सत्य को पाया है तो विचार और विवेचना की ही वदौलत पाया है। जब किसी वात का विवेचना की जाती है तो वहुधा विवाद उपस्थित होता है। क्योंकि विवेचक जिसकी वात, या जिसके मत का खण्डन करता है, वह, उसे विपक्षी की विवेचना ठीक न मालूम हुई तो उसका उत्तर देता है इस तरह वाद-विवाद वढ़ता, और किसी मत या विषय विशेष की सत्यता की जांच करने की ही इच्छा से यदि दोनों पक्ष विवाद पर कमर कसते हैं तो उनका मनोरथ सफल भी हो जाता है। इस लिये विवेचना की इतनी महिमा है। जान स्टुअर्ट मिलने ता अपनी "स्वाधीनता" नाम की पुस्तक में विचार और विवेचना का वहुत ही अधिक माहात्म्य गाया है। उसकी राय है कि किसी मत प्रवर्तक की यदि सचमुच ही यह इच्छा हो कि उसे अपना मत की योग्यता का यथार्थ ज्ञान हो जाय, और उसे विपक्षी न मिलै, तो वह अपनी ही मतवालों में से किसी को कल्पित विपक्षी वना कर उनके साथ वाद-प्रतिवाद करे। विना इसके उसे अपने मत की सत्यता पर निश्चय विश्वास नहीं हो सकता।

पर वाद-विवाद करने के नियम हैं। मनमानी बात कह देने का नाम विवाद या विवेचना नहीं है। इस बात को हिन्दोस्तान के दार्शनिक महात्माओं ने भी स्वीकार किया है। यदि कोई कहै कि १० और १० इक्कीस होते हैं तो उसका यह उत्तर ठीक अवश्य होगा कि १० और १० इक्कीस नहीं बीस होते हैं। परन्तु विवेचना का यह तरीक़ा ठीक नहीं है। विवेचक को चाहिए कि वह अपने उत्तर को, अपने मत को, मज़बूत दलीलों से साबित करे। और उसके साथ ही प्रतिपक्षी के मत का सप्रमाण खण्डन भी करै। जा यह कहता है कि १० और १० बीस होते हैं, उसे चाहिए कि एक जगह १० और दूसरी जगह ११ लकीरें खींच कर वह अपने प्रतिपक्षी से उन्हें गिनावै और इस बात को साबित करै कि इक्कीस होने के लिए १० और ११ की जरूरत होती है। ऐसा करने से उसके प्रतिपक्षी का मत खण्डित हो जावेगा। तब वह १० और १० लकीरों को गिन कर यह सिद्ध करै कि ऊनका जोड़ बीस होता है। इस तरह उसके मत का खण्डन होगा। यह उदाहरण कल्पित है। और भी कई तरह से नियमानुसार खण्डन मण्डन हो सकता है। १० और १० मिल कर बीस होते हैं। यह निर्भ्रान्त है। परन्तु इस प्रकार निर्भ्रान्त उत्तर देने वाले की तर्क पद्धति भी जब सदोष मानी जाती है तब भला बिना प्रमाण के यदि कोई १० और १० जोड़ को २१ या १९ बनाने लगें तो उसकी तर्कना-प्रणाली की क्या कहना है। जिस विवेचना में इस प्रकार की पद्धति का अवलम्बन होता है वह हेय और उपेक्ष्य समझी

जाती है। उस पर ध्यान न देना ही अच्छा होता है। यह हम किसीको लक्ष्य करके नहीं लिखते। तर्कना का साधारण नियम समझ कर हमने यहां पर उसे लिख दिया है।

सरस्वती में गत वर्ष वराह-मिहिर पर एक लेख निकला। उस में लेखक ने एक प्रमाण देकर यह साबित किया कि महाभारत हुए ११००० वर्ष हुए। इसके बाद मदरास की तरफ़ के एक वकील साहिब का एक लेख हमने पढ़ा। उसमें लेखक ने यह सिद्धान्त निकाला था कि युधिष्ठिर को हुए सिर्फ़ ३००० वर्ष हुए। उन्हीं के नाम का उल्लेख करके यह भी हमने लिख दिया। अपनी तरफ से हमने कुछ नहीं लिखा। यह पिछला मत पं० गणपति जानकी राम दुवे को गलत मालूम हुआ। इस पर उन्होंने एक और सज्जन के मत के आधार पर एक छोटा सा लेख सरस्वती में छपने के लिये भेजा। इसे भी हमने छाप दिया। इसके अनुसार वर्त्तमान् समय से ७१३१ वर्ष पहले युधिष्ठिर विद्यमान थे। यह मत खुद दुवे जी का नहीं। किन्तु एक दूसरे पंडित का है। इस पर हमने कहा कि दुवे जी यदि वकील साहेब के मत का सप्रमाण खण्डन करके इस नये मत के सच होने पर ज़ोर देते तो इसका अधिक गौरव होता। साथ ही हम ने यह भी दिखलाया कि उन के लिये हुए मत की पुष्टि के लिये भी बहुत सी बातों का उत्तर देना बाकी है। यह हमने इस लिये लिखा कि दुवे जी विद्वान हैं और वाद-विवाद करने में नियमों को जानते हैं। इस लिये वे हमारे कहने को बुरा न समझेंगे।

जिस समय दुबे जी का लेख हमारे पास आया, हम कंनिहाम साहेब की पुरातत्व सम्बन्धी रिपोर्ट पढ़ रहे थे। उनमें एक अध्याय देहली के ऊपर था। उसमें युधिष्ठिर के सम्बन्धमें गम्भीर गवेषणा से भरा हुआ एक लेख था। वह हम दो ही चार दिन पहले पढ़ चुके थे। इस लिए दुबे जी के लेख पर नोट देते समय हमने कंनिहाम साहेब का मत भी लिख दिया। उनके मत में महाभारत हुए कोई सवा तीन हज़ार वर्ष हुए। हमने अपने मन में कहा कि जब सब अपने २ मत लिख रहे हैं तब उनका भी सही जो अपने मत को सबल और विश्वसनीय प्रमाणों से सच्चा साबित कर देगा उसी का मत मान्य हो जायगा। किसी अङ्गरेज़ या मुसलमान की राय लिख देना क्या कोई अनुचित बात है।

इस पर हमारे सविज्ञ प्रयाग समाचार ने हमारे नोट पर एक लेख मालिका निकालनी शुरू की है। इस मालिका का पहला नम्बर ५ मार्च के प्रयाग समाचार में निकला है। आप की राय है कि विलायती पंडितों के पुरातत्व-विषयक सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक और अविश्वसनीय होते हैं। सब नहीं, उतने ही जितने "हम लोगों" के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। पर हमारी मन्दबुद्धि में यह आता है कि एक आदमी का सिद्धान्त दूसरे आदमी के सिद्धान्त के विरुद्ध होने ही से वह भ्रान्तिमान् या विश्वासहीन नहीं हो सकता। विरोध होना अविश्वसनीयता का चिन्ह नहीं है। देशियों के भी सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक हो सकते हैं और विदेशियों के भी। पर परमाण की अपेक्षा होती है। क्या स्वदेशियों के सभी

सिद्धान्त विश्वसनीय होते हैं ? क्या कृष्ण-चरित के कर्ता के सब सिद्धान्त भ्रान्तिहीन हैं ? क्या पुराणों के प्रक्षिप्त, श्री कृष्ण की अलौकिक लीलाओं को कपोल कल्पना और वृन्दावन विहार सम्बन्धी पौराणिक कथा को "अतिप्रकृत उपन्यास मानने के लिये सब लोग तैयार हैं । ये सब सिद्धान्त बङ्किम बाबू हीके तो हैं। ये उन्हीं के कृष्ण चरित में हैं ।

हमारी प्रार्थना है कि युधिष्ठिर के समय का हमने जरा भी अनुमान नहीं किया । यदि किसीने किया है तो बङ्किम बाबू और जनरल कंनिंहाम ही ने किया है । हमारा अपराध सिर्फ इतना ही है कि हमने कंनिंहाम के अनुमान को लिख भर दिया है । इस के लिये हम प्रयाग समाचार से क्षमा मांगते हैं । हमने कंनिंहाम साहेब के अनुमान को दस पांच सतरों में लिख दिया, आपने बङ्किम बाबू के अनुमान को कई कालमों मे । हमारे और आपके लेख मे फरक इतना ही है ।

हमने कंनिंहाम साहब की मत की जांच करने की जरा भी कोशिश नहीं की । क्योंकि युधिष्ठिर का समय निर्णय करने के अभिप्राय से हमने अपना नोट लिखा ही नहीं । अतएव उनके उल्लिखित प्रमाणों को पुराणों में ढूंढने की हमने कोई जरूरत नहीं समझी । जिसे युधिष्ठिर के समय का निर्णय करना हो वह उन्हें देखे और यदि कंनिंहाम ने अपने अनुमान में गलतियां की हों तो उनको सुधार दे । यदि प्रेमसागर की यह राय हो कि दूसरे के अनुमान की साधनीभूत सामग्री को वह खुद न

देख ले और उसकी सत्यता पर उसका विश्वास न हो जाय, तो मानों वह कबूल कर लेना होगा कि वङ्कीम बाबू के निर्णय में संस्कृत और अंग्रेजी के जितने ग्रन्थों का नाम आया है उन सब को आपने रख लिया है और उल्लिखित वाक्यों की यथार्थता की परीक्षा भी कर ली है।

बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकारक वङ्कीम बाबु ने कृष्णचरित्र नाम की एक पुस्तक लिखी है। उस में उन्होंने महाभारत के काल का निर्णय भी किया है। इसी निर्णय का भावार्थ प्रयागसमाचार ने देना शुरू किया है।

वङ्कीम बाबू कहते हैं कि योरप के किसी २ पंडित का मत है कि महाभारत ईसा के चार पांच सौ वर्ष से अधिक पुराना ग्रन्थ नहीं है। पर स्वदेशी पंडितो की सम्मति है कि महाभारत वर्तमान समय से कोई पांच हज़ार वर्ष पहले का है। इन दोनों मतों को बाबू साहेब "घोरतर भ्रम परिपूर्ण" बतलाते हैं। महाभारत कब हुआ इस सम्बन्ध में आपने अपनी मीमांसा में जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का मत दिया है उनकी तालिका इस प्रकार है।

विष्णुपुराण	ईसा के पहले १४३० वर्ष		
मत्स्य और वायुपुराण	"	"	१४६५ वर्ष
कोलब्रुक, विलसन और	"		
एल्फिंस्टन	"	"	चौदहवीं शताब्दी
विलफर्ड	"	"	१३७० वर्ष
बुकानन	"	"	तेरहवीं शताब्दी
प्राट	ईसा के बारहवी शताब्दी		

इन सब मतों में से वङ्कीम बाबूके विष्णुपुराण के ही मत को सब से अधिक ठीक समझते हैं। आप अपनी पुस्तक में लिखते हैं—"विष्णुपुराण से ईसाके १४३० वर्ष पहले की प्राप्त होती है, वही ठीक है। मुझे भरोसा है कि इन सब प्रमाणों को सुन कर अब कोई यह न कहेगा कि महाभारत का युद्ध द्वापरके शेष में, पांच हज़ार वर्ष पहले, हुआ था"। अच्छा तो विष्णुपुराण ही का मत वङ्कीम बाबू का हुआ। तदनुसार महाभारत का युद्ध ईसाके १४३० वर्ष पहले हुआ; द्वापरके अन्त में नहीं। प्रयाग समाचार को भी शायद-यही मत ठीक जंचा है। अच्छा १४३० में १९०४ जोड़ दीजिये। फल ३३३४ वर्ष हुए। अब गत फरवरी के सरस्वती का बयालीसवाँ पृष्ठ देखिए। वहां लिखा है कि—"इस हिसाब से महाभारत को कोई सवा तीन हज़ार वर्ष हुए"। कंनिहाम साहेब और वङ्कीम बाबू का मत एक हो गया। क्योंकि ८४ वर्ष का अन्तर कोई अन्तर नहीं। फिर हमारे 'कोई' शब्द पर भी तो ध्यान देना चाहिये। परिक्षित का जन्म साहेब ने ईसा के १४३० वर्ष पहले अनुमान किया है। ठीक वही समय विष्णुपुराण और वङ्कीम बाबू के मत में महाभारत का है। अब वङ्कीम बाबू के निर्णय और कंनिहाम के अनुमान में भेद कहां है, यह समझ में नहीं आता। जिस निमित्त यह परिश्रम हो रहा है, क्यों यह लेख माला निकाली जा रही है, अभी तक यह हमारे ध्यान में ही नहीं आया। शायद अन्त की माला में इसका रहस्य खुले। वङ्कीम बाबू ने अपनी पुस्तक में विलायती पण्डितों को दो चार उल्टी सी-

भी सुनाई हैं। उनका अनुवाद करके पाठकों का मनोरञ्जन करने के लिए यदि यह परिश्रम हो तो हो सकता है।

गीता हिन्दुओं की सब से पूज्य पुस्तक है। उसमें लिखा है।—

"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।"

तब यदि हैट-कोट धारी कोई मनुष्य कुछ कह दे तो क्या उसके हैट-कोट के कारण ही उसकी बात अविश्वसनीय हो जाय? ऐसा तो नहीं हो सकता। यदि उसके कथन में कुछ सार है तो उसे ले लीजिये और यदि नहीं है तो जाने दीजिये—यह कोई न्याय नहीं है कि विना प्रतिकूल प्रमाण के ही हैट-कोट और बूट वालों का पुरातत्त्व सम्बन्ध में कुछ कहना सर्वथा अश्रद्धेय है और तिलक, माला और पगड़ी वालों का कहना सर्वथा श्रद्धेय है। बङ्कीम बाबू के चित्र में भी हम पगड़ी देखते हैं, परन्तु कृष्ण चरित्र में उन्होंने बहुत सी ऐसी बातें कही हैं जिनको सुन कर धार्मिक हिन्दू शायद कांप उठें।

बङ्कीम बाबू के लेख का प्रयाग समाचार के मान्यवर सम्पादक ने जो भाव हिन्दी में दिया है। उसमें कई जगह दृष्टि-दोष हो गया है। उसके दो एक उदाहरण हम देते हैं।

मूल—कृष्ण चरित—१ म खण्ड ४ र्थ परिच्छेद	हिन्दी भावार्थ।
(१) महाभारत प्राचीन ग्रन्थ बटे, किन्तु खि० पू० चतुर्थ कि पञ्चम शताब्दी ते प्रणीत हइयाछिल।	महाभारत प्राचीन ग्रन्थ तो है परन्तु अब से चार अथवा पांच शताब्दी पूर्व रचा गया।

(२) पूर्वोक्त ग्रन्थ, पञ्चम परिच्छेद प्रथमे, एतेरई समालोचना आवश्यकता। ४९४२ वत्सर पूर्वे कुरुक्षेत्रे युद्ध हइयाछिल,

ए कथा सत्य नहे इहा आमि-देशी ग्रन्थ अवलम्बन करिआई प्रमाण करिव।

हिन्दी भावार्थ।

जो लोग यह कहते हैं कि कुरुक्षेत्र में महा युद्ध के अधिवेशन हुये केवल ४९९२ वर्ष व्यतीत हुए हैं। यह उनका कहना सत्य नहीं है इस बात को कबूल न कर हम आगे सिद्ध करेंगे।

पहले अवतरण के हिन्दी—भावाथ में "खि० पू०" के छूट जान से हजार वर्ष का अन्तर हो गया। दूसरे अवतरण में और बातों को जाने दीजिये, सिर्फ "केवल" शब्द को देखिये। अकेले इस शब्द के आ जाने से अर्थ का अनर्थ हो गया।

यह शब्द मूल में नहीं है। ये त्रुटियां जान बूझ कर नहीं की गईं। सिर्फ असावधानता से हुई हैं। परन्तु हमारे माननीय सहयोगी का मतलब यदि सत्य के ढूँढ़ने का है तो उसे अधिक सावधान रहना चाहिये।

सविज्ञ प्रयाग समाचार से हमारी यही प्रार्थना है कि जो कुछ मैंने लिखा है सिर्फ सत्य के अनुरोध से लिखा है। यदि हमसे कोई शब्द अनुचित निकल गया हो तो उसके लिये हम क्षमा प्रार्थी हैं। जिस लेख का यह उत्तर है उसके आरम्भ कई बातें ऐसी हैं जिनके उत्तर देना या जिन पर कुछ कहना, हमने मुनासिब नहीं समझा। युधिष्ठिर के समय का निर्णय होना महत्व

की बात है। इसी ख्याल से प्रार्थना के रूप में जो कुछ कहना था हमने कह दिया है। यदि और कोई ऐसी वैसी बात होती तो हम चुप रहने के सिवा और कुछ न कहते—

सत्यव्रत युधिष्टिर के काल का निर्णय हो चुका। तीन खण्डों में उसकी समाप्ति हुई। अन्तिम, अर्थात् तीसरा खण्ड, २ एप्रिल के प्रयाग समाचार में निकला। २ मई तक हमने और राह देखी कि शायद इसके भी आगे कोई टीका टिप्पणी निकले, परन्तु और कुछ नहीं निकला। वङ्कीम बाबू के कृष्णचरित्र के प्रथम खण्ड के सातवें परिच्छेद का नाम है "पाण्डवों की ऐतिहासिकता।" उसी का अनुवाद देकर यह लेख मालिका पूरी कर दी गई। लेख का अन्तिम फलाश यह है।

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में, उपासना अर्थ के वोधक वासुदेवक और अर्जुनक शब्द की व्युत्पत्ति दी है। गोल्डस्टुकर साहेब का मत है कि जब पाणिनि सूत्र बने थे तब गौतम बुध्र नहीं पैदा हुए थे। अर्थात् पाणिनि का काल ईसा के पहले छठी शताब्दी कहा जा सकता है। उन के मत में उस समय ब्राह्मण, आरण्यको पनिषद इत्यादि कुछ न थे और न आश्वलायन, सांख्यायन आदि का ही अभ्युदय हुआ था।

मोक्षमूलर के मत में ब्राह्मणों का समय ईसा के पहले १००० वर्ष है अतएव वङ्कीम बाबू ने पाणिनि का समय ईसा के पहले अधिक से अधिक दशम या एकादश शताब्दी अनुमान किया। आप ने वेवर साहेब को "भारत द्वेषी" की और उन्हीं के देश

शासिनी गोल्डष्टुकर को " आचार्य " की पदवी दी है। अस्तु। इससे यह सूचित हुआ कि ईसा के हज़ार वर्ष पहले ही महाभारत प्रचलित था और वासुदेव तथा अर्जुन आदि की गिनती देवताओं में होने लगी थी। यदि ऐसा न हो तो पाणिनि को वासुदेवक और अर्जुन शब्दों की साधना न वतलानी पड़ती। अच्छा, महाभारत तो ईसा के हज़ार वर्ष पहले प्रचलित था पर युधिष्ठिर किस समय विद्यमान थे ? अथवा महाभारत का युद्ध कब हुआ था ? यही ईसा के पहले १४३० वर्ष। वही विष्णुपुराण का मत जिसे बङ्किम बाबू ने पसन्द किया है। क्योंकि उन्होंने उसका कहीं खण्डन नहीं किया। युद्ध होने के बाद तीन चार सौ वर्ष में वासुदेव और अर्जुन इत्यादि की गिनती देवताओं में होने लगी होगी। यही बङ्किम बाबू का मत है।

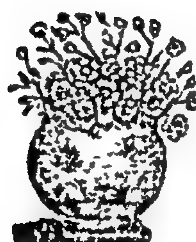
सुविज्ञ सम्पादक जी ने किस लिए इतना परिश्रम किया; किस लिए यह लेख मालिका निकाली सो वात हमारी समझ में फिर नहीं आई। खैर, कुछ तो आप ने समझा ही होगा। सम्भव है हम आप के मतलब को न समझे हों। पर एक प्रार्थना आप से हमारी है। वह यह कि यदि आप किसीका मत लिखा करें तो ज़रा सावधानी से किया करें। कुछ का कुछ न लिख दिया करें। आप की असावधानता के दो एक उदाहरण हम और दिखलाये देते हैं। वे भी अनुवाद सम्बन्धी हैं।

कृष्ण-चरित-सप्तम-परिच्छेद	प्रयाग समाचार का भावार्थ
(१) आर इहाओ सम्भव,	और यह भी सिद्ध हो गया कि

ये तांहार (पाणिनिर) अनेक पूर्वइ महाभारत प्रचलित हइयाछिल।	इनके (पाणिनि के) बहुत पूर्व से महाभारत प्रचलित था।
(२) अतएव महाभारतेर युद्धेर अनत्य परेइ आदिम महाभारत प्रणीत हइयाछिल वलियाये प्रसिद्धि आछे, ताहार उच्छेद करिवार कोन कारण देखाय न।	इससे यह सिद्ध हो गया कि महाभारत युद्ध के थोड़े ही पीछे जो आदि महाभारत वना कर शामिल करने को दोष दिया जाता है इसके खण्डन की अब कोई आवश्यकता नहीं।
(३) अतएव महाभारतेर प्राचीनता सम्वन्धे वड़ गोलयोग करार कहारओ अधिकार नाइ।	अतएव महाभारत की प्राचीनता में हस्तक्षेप करने का किसीको अधिकार नहीं है।

यहां पर पहले अवतरणमें जल्दी या असावधानता के कारण "सम्भव" शब्द का अर्थ "सिद्ध हो गया" कर दिया गया। सम्भव और सिद्ध होने में कितना अन्तर है इसके वतलाने की ज़रूरत नहीं। दूसरे अवतरण का हिन्दी भावार्थ हमारी समझ में विल्कुल ही नहीं आया। वँगला वाक्य का मतलव है—अतएव जो यह प्रसिद्धि है कि महाभारत—युद्ध के कुछ ही पीछे आदिम महाभारत की रचना हुई थी उसके उच्छेद, अर्थात्, खण्डन का कोई कारण नहीं देख पड़ता।" अनुवाद में "महाभारत वना कर शामिल करने का दोष" कहां से आया नहीं मालूम। और वाक्य

सार्थक भी तो होना चाहिये। तीसरे अवतरण में "गोलयोग।" का अर्थ हस्तक्षेप भी जल्दी में लिख दिया गया है। हस्तक्षेप की जगह "गोलमाल" शब्द आता तो वह मूलार्थ का अधिक बोधक होता। हस्तक्षेप और गोलमाल में फर्क है।



विक्रम संवत्



हमारे समान इतर साधारण जनोंका विश्वास है कि प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य मालवा देशके अधीश्वर थे। धारा नगरी उनकी राजधानी थी। विद्वानों और कवियोंके वे बड़े भारी आश्रयदाता थे स्वयं भी कवि थे। शकों, अर्थात् सीदियन ग्रीक लोगों को उन्होंने बहुत बड़ी हार दी थी। इससे वे शकारि कहलाते हैं। इसी जातिके उपलक्ष्य में उन्होंने अपना संवत् चलाया, जिसे १९६७ वर्ष हुए। इसी हिसाबसे विक्रमादित्य का समय ईसा के ५७ वर्ष पहले सिद्ध होता है।

परन्तु इस परम्परा-प्राप्त जनश्रुति या विश्वास को कितने ही पूव-विद्या-विशारद विश्वसनीय नहीं समझते। डाक्टर फ्लीट, हार्नली, कीलहार्न बूलर और फर्गुसन आदि विदेशी और डाक्टर भण्डारकर, भाऊदाजी आदि स्वदेशी विद्वान ऐसे ही विद्याविशारदों की कक्षाके अन्तर्गत हैं। इस अविश्वसनीयता का कारण सुनिए:—

डाक्टर कीलहार्नके मनमें, नाना कारणोंसे, विक्रम संवत्के विषयमें एक कल्पना उत्पन्न हुई। इस बातको हुए कई वर्ष हुए। उन्होंने एक लम्बा लेख लिखा वह इंडियनएंटिक्वेरी" के कई अंको में लगातार प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने यह सिद्ध

करने की चेष्टा की कि इस संवतका जो नाम इस समय है वह आरम्भ में न था। पहले वह मालव-संवत् के नामसे उल्लिखित होता था। अनेक शिला लेखों और ताम्र-पत्रों के आधार पर उन्होंने यह दिखाया कि ईसाके सातवें शतक के पहले लेखों और पत्रों में इस संवत् का नाम मालवसंवत् पाया जाता है। उनमें अंकित 'मालवानां गणस्थित्या' पद का अर्थ उन्होंने लगाया-मालव देश की गणना का क्रम। और यह अर्थ ठीक भी है। कीलीहार्नकी इस गवेषणा का निष्कर्ष निकला कि सातवें शतक के बाद विक्रम-संवत् का नाम मिलता है इसके पहले नहीं। पहले तो वह "मालवानां गणस्थित्या" की सब कहीं दुहाई है। अच्छा तो इस मालव-संवत् का नाम विक्रम संवत किसने कर दिया, कब किया और किस कारण किया। डाक्टर कीलहार्न का कथन है कि ईसाके छठे शतक में यशोधर्म्मन नामका एक प्रतापी राजा मालवा मे राज्य करता था। उसका दूसरा नाम हर्षवर्धन था। उसने ५४४ ईसवी में हूणोंके राजा मिहिरकुल को मुलतानके पास करूर में परास्त करके हूणोंका बिलकुल ही तहस नहस कर डाला। उनके प्रभुत्व और बल को उसने प्रायः समूल उन्मूलन कर दिया। इस जीतके कारण उसने विक्रमादित्य उपाधि ग्रहण की। तब से उस का नाम हर्षवर्धन विक्रमादित्य पड़ा। इसी जीतके खुशी में उसने पुराने प्रचलित मालव-संवत् का नाम बदल कर अपनी उपाधिके अनुसार उसे विक्रम-संवत् कहे जानेकी घोषणा दी। साथ ही उसने एक बात और की थी। उसने कहा, इस संवत को ६००

वर्ष का पुराना मान लेना चाहिये, क्यों कि नयें किंवा दो तीन वर्ष के पुराने संवत् का इतना आदर न होगा, इस लिए उसने ५४४ मे ५६ जोड़कर ६०० किये : इस तरह उसने इस विक्रम-संवत् की उन्नति ईसा । के ५६ या ५७ वर्ष पहले मान लेने की आज्ञा लोगों को दी ।

इस कल्पनाके आधार पर विक्रमादित्य ईसाके छठी शताब्दी में हुए माने जाने लगे और उसके साथ महाकवि कालीदास भी खीचकर ६०० वर्ष इधर आपड़े । इस कल्पनाके संम्बध में आज तक सैकड़ों लेख लिखे गए हैं । कोई इसे ठीक मानता है, कोई नहीं मानता । कोई इसके कुछ अंशों को ठीक समझता है कोई कुछ को ।

डाक्टर कीलहार्न तो इस कल्पना के जनक भी ठहरे । डाक्टर हार्नली भी इसे मानते हैं । विन्सेंट स्मिथ साहेब और डाक्टर भाण्डारकर कहते हैं कि मालव-संवत का नाम विक्रम-संवत में बदल जरूर गया, पर बदलने वाला गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त प्रथम था । डाक्टर फ्लीट का मत है कि विक्रम-संवत का चलाने वाला राजा कनिष्क था । इसी तरह ये विद्वान अपनी अपनी हांकते है । एक मत होकर सबने किसी एक कल्पनाको निर्भ्रान्त नहीं माना और न इस बातके माने जाने के अब तक कोइ लिक्षण ही देख पड़ते है ।

राय बहादुर सी० वी० वैद्य, एम,०ए०,एल०एल०बीने इस विषय मे एक बहुत ही युक्तिपूर्ण लेख लिखा है । उनका लेख प्रफ.शिव

हुए कुछ समय हुआ। उन्होंने पूर्वोक्त कल्पनाओं को निःसार सिद्ध करके यह दिखलाया है कि विक्रमादित्य नामका एक राजा ईसाके ५७ वर्ष पहले जरूर था। उसने अपने नामसे यह संवत् चलाया। हमने इस विषयके जितने लेख पढ़े हैं सबमें वैद्य महाशय का लेख हमे अधिक मनोनीत हुआ और अधिक प्रमाण तथा युक्तिपूर्ण भी मालूम हुआ। अतएव उनके कथन का सारांश हम नीचे देते हैं।

इस संवत के सम्बन्ध में जितने वाद विवाद और प्रतिवाद हुए हैं, सबका कारण डाक्टर कीलहार्न का पूर्वोक्त लेख है। यदि वे यह साबित करने की चेष्टा न करते कि मालव-संवत का नाम पीछे से विक्रम-संवत हो गया तो पुरातत्ववेत्ता इस बातकी खोजके लिए आकाश—पाताल एक न कर देते कि इस संवत्सर का नाम किसने बदला क्यों बदला और कब बदला। जिन लेखों और पत्रों के आधार पर डाक्टर साहेब ने पूर्वोक्त कल्पना की है उन के अस्तित्व और प्रमाणिकत्व के विषय में किसी को कुछ संदेह नहीं। सन्देह इस बात पर है कि पुराने ज़मानेके शिलालेखों और ताम्र-पत्रोंमें " मालवानां गणास्थित्या " होने से ही क्या यह सिद्ध माना जा सकता है कि इस संवत का कोई दूसरा नाम न था? इसका कोई प्रमाण नहीं कि इस समय के ये लेख या पत्र कहीं छिपे हुए नहीं पड़े हैं जिनमें यही संवत् विक्रमसंवत के नाम से उल्लिखित हो? इस देश की सारी पृथ्वी तो छान डाली गई नहीं और न सारे पुराने मकान, मन्दिर खंडहर आदि ही ढूंढ डाले गये। इस संवत के प्रचारक मालवा देशवासी हो

सकते हैं। पर इससे क्या यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मालवा के किसी एक मनुष्य ने किसी घटना विशेष के उपलक्ष्य में, यह संवत् नहीं चलाया ? यह कोई असंभव बात तो मालूम होती नहीं देश-वासियों के नामसे प्रसिद्ध हुआ संवत् भी किसी विशेषपुरुष के द्वारा किसी बहुत बड़े कामकी यादगारमें, चलाया जा सकता है। रोमन संवत रोम-निवासियों के नामसे प्रसिद्ध है। परन्तु वह रोम नगर की नींव गलने की घटना-विशेष की यादगार में चलाया गया था। इसी तरह मालव संवत् का भी किसी एक मनुष्यके द्वारा किसी विशेष घटनाके कारण, चलाया जाना सर्वथा संभव है। मालवा में मालव लोग बहुत पुराने जमाने में रहते थे। गौतम बुध के समय से तो उनका नाम-निर्देश साफ़ तौर पर किया जाता है पर उस जमानेमें मालव संवत् का प्रचार न था। उसका अस्तित्व ही न था। इस संवत की उत्पत्ति ईसाके ५७ वर्ष पहले हुई मानी जाती है। इससे यह देखना चाहिए कि उस समय मालवा में कोई बहुत बड़ी घटना हुई थी या नहीं और विक्रमादित्य नाम का कोई राजा वहां था या नहीं।

जिन ताम्र-पत्रों के आधार पर डाक्टर कीलहार्न ने अपने कल्पना का मन्दिर खड़ा किया है उनमें से एक बहुत पुराने पत्र में 'मालवेश' शब्द आया है। यह शब्द इसी मालव संवत् के सम्बन्ध में है। इससे यह सूचित है कि इसमें संवत्सर के प्रवर्तक राजा का नाम नहीं है तथापि वह संवत् किसी राजा का चलाया हुआ जरूर है। यह नहीं कहा जा सकता कि ताम्र

पत्र के खोदने या खुदवानेवालों का उस राजा का नाम न मालूम था। जैसे शक संवत् का प्रयोग न करने वाले उसके प्रवर्तक का नाम उन पुराने, शिला लेखों और ताम्रपत्रों में नहीं दिया गया, केवल मालव-संवत् या मालवेश संवत् दिया गया है। पर इससे यह कहां सिद्ध होता है कि इसका प्रवर्तक कोई राजा या पुरुष-विशेष न था। मालव-निवासियों के एक देश या स्थान छोड़ कर अन्य देश या स्थान में जा बसने की किसी घटना का कुछ पता नहीं। न उनके किसी प्रसिद्ध नगर या इमारत बनाने की किसी घटना का कहीं कोई उल्लेख है। न उनके द्वारा की गई किसी और ही बड़ी बात का कोई प्रमाण। फिर मालव-निवासियों के द्वारा इस संवत् का चलाया जाना क्यों माना जाय? 'मालवेश' का अर्थ क्या मालव देश के राजा के सिवा और कुछ हो सकता है?

जरा देर के लिये मान लीजिए कि उसका आदिम नाम मालव-संवत् ही था। अच्छा तो इस नाम को बदल कर कोई विक्रम संवत् करेगा क्यों? कोई भी समझदार आदमी दूसरे की चीज का उल्लेख अपने नाम से नहीं करता। किसी विजेता राजा को दूसरे के चलाये संवत् को अपना कहने में क्या कुछ भी लज्जा न मालूम होगा? वह अपना एक नया सम्वत् सहज ही में चला जा सकता है। किसी के संवत् का नाम बदल कर उसे अपने नाम से चलाया और फिर उसे ६०० वर्ष पीछे फेंक देना बड़ी ही अस्वाभाविक बात है। भारतवर्ष का इतिहास

देखने से मालुम होता है जितने विजेता राजाओं ने संवत् चलाया सबने नया संवत् अपने ही नाम से चलाया है। सब ने नया संवत् अपने ही नाम से चलाया है। पुराणों और भारतवर्ष की राजनीति सम्बन्धिनी प्राचीन पुस्तकों में इस बात की साफ आज्ञा है कि बड़े २ नामी और विजयी नरेशों को अपना नया सम्वत चलाना चाहिए। युधिष्ठिर, कनिष्क, शीलवाहन और श्रीहर्ष आदि ने इस आज्ञा का पालन किया है। शिवाजी तक ने अपना सम्वत अलग चलाने की चेष्टा की है। अतएव दूसरे के सम्वत को अपना बनाने की कल्पना हास्यास्पद और सर्वथा अस्वाभाविक है। अपना सम्वत चलाने की अपेक्षा दूसरे के सम्वत् को अपना बनाना बहुत कठिन है। सम्वत चलाने वाले का एक मात्र उद्देश यह रहता है कि उसके द्वारा उसका नाम चले और जिस उपलक्ष्य मे सम्वत चलाया गया हो उसकी याद लोगों को बनी रहे। साथ ही उस स्मरणीय घटना का काल भी लोगों को न भूले। इन सब बातों पर ध्यान देने से यही कहना पड़ता है कि जो विद्वान् यशोवर्म्मन् को मालव-सम्वत का नाम बदलने वाला समझते है उन्होंने बिना पूर्वापर विचार किये ही ऐसा समझ रखा है।

डाक्टर भाण्डारकार कहते हैं कि गुप्तवन्शी राजा प्रथम चन्द्रगुप्त ने पहिले पहल अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा और उसी ने मालव-सम्वत का नाम अपने नियमानुसार, बदल

कर विक्रम-सम्वत कर दिया। परन्तु इस बात पर विश्वास नहीं होता। इसलिये कि गुप्तवंशी राजाओं ने अपना सन्वत प्रथम चन्द्रगुप्त के बहुत पहले ही चला दिया था। अतएव अपने पूर्वजों के चलाये हुए सम्वत का तिरस्कार करके मालव-देश के सम्वत को चन्द्रगुप्त क्यों अपने नाम से चलाने लगा। फिर एक बात और भी यह है। चन्द्रगुप्त के सौ वर्ष पीछे के ताम्रपत्रों में भी मालव-सम्वत का उल्लेख मिलता है। यदि चन्द्रगुप्त उस का नाम बदल देता तो फिर क्यों कोई मालव-सम्वत का उल्लेख करता। अतएव इस तरह की कल्पना विश्वासयोग नहीं।

यशोधर्म्मन् को जो एक शासनपत्र मिला है उसमें उस बेचारे ने न तो कोई सम्वत चलाने की बात कही है, न विक्रमादित्य उपाधि ग्रहण करने ही की बात कही है, और न मालव-सन्वत का नाम बदलने की चर्चा की है। उसने सिर्फ इतनी बात कही है कि मेरे राज्य का विस्तार गुप्त-नरेशों के राज्य विस्तार से अधिक है। वह गुप्त-नरेशों के प्रभुत्व को अपने प्रभुत्व से बहुत अधिक समझता था। इसी लिये उसने इस शासनपत्र द्वारा यह सूचित किया कि अब मेरा राज्य गुप्तों के राज्य से कम नहीं, परन्तु अधिक है। अर्थात अब मैं उनसे भी बड़ा राजा हूं। यदि उसने मालव-सम्वत का नाम विक्रम सम्वत में बदला होता तो वह इस बात को जरूर कहता कि गुप्तों की तरह मैं ने भी सम्वत चलाया है। परन्तु उसने यह कुछ भी नहीं किया।

अतएव यह युक्ति, यह तर्कना यह कल्पना भी सब तरह निःसार जान पड़ती है।

यहां तक जिन बातों का विचार हुआ उससे यही मालुम होता है कि ईसा के ५७ वर्ष पहिले विक्रमादित्य नाम का कोई जरूर था। उसी ने विक्रम सम्वत चलाया। वह मालव देश का राजा था। इसीलिए शुरू शुरू के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में यह सम्वत मालव सम्वत के नाम से भी अभिहित हुआ है। अब यदि उस समय विक्रमादित्य के अस्तित्व का कोई स्मरण मिल जाय तो उसके विषय में की गई बहुत सी शंकाओं के लिये जगह ही न रहे।

पुरातत्ववेत्ता ईसा के पूर्व पहिले शतक में किसी विक्रमादित्य का होना मानने में बेतरह संकोच करते हैं। इसलिये कि उस समय का न कोई ऐसा सिक्का ही मिला है जिसमें उसके राजा का नाम हो, न कोई शिलालेख ही मिला है, न कोई ताम्रपत्र ही मिला है। परन्तु उनकी यह युक्ति बड़ीही निर्बल है। तत्कालीन प्राचीन इतिहास में उस राजा के नाम का न मिलना उसके अनस्तित्व का बोधक नहीं माना जा सकता। पुराने जमाने के सारे ऐतिहासिक लेख प्राप्त हैं कहां? यदि वे सब प्राप्त हो जाते और उनमें विक्रमादित्य का नाम न मिलता तो ऐसी शङ्का हो सकती थी। पर बात ऐसी नहीं है। विक्रमादित्य का नाम जरूर मिलता है। दक्षिण में शालवाहन वंशीय हाल नामक एक राजा हो गया है। विन्सेंट स्मिथ

साहेब ने उसका समय ६०८ ईसवी निश्चय किया है। इस हालमें गाथा-सप्तसती नाम की एक पुस्तक प्राचीन महाराष्ट्र भाषा में लिखी है। उसके पैसठवें पद्य का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है।

सवाहन सुखरसतोसितेन ददता करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितंतस्या॥

इस पद्य में विक्रमादित्य की उदारता का वर्णन है। उसके द्वारा एक लाख रुपये दिये जाने का उल्लेख है। इससे इस बात का पूरा प्रमाण मिलता है कि हाल नरेश के पहिले विक्रमादित्य नाम का दानशील राजा कोई जरूर था। अब इस बात का विचार करना है कि इस राजा ने शकों का पराभव किया था या नहीं? इसका शकारि होना यथार्थ है या अयथार्थ।

डाक्टर हार्नली और कीलहार्न आदि का ख्याल है कि मुलतान के पास करूर में यशोधर्म्मन् ने ही मिहिरकुल को, ५२४ ईसवी में परास्त किया था। पर इसका कोई प्रमाण नहीं। यह सिर्फ इन विद्वानों का ख्याली पुलाव है, और कुछ नहीं। उन्होंने अल्बरूनी के लेखों का जो प्रमाण दिया है उनसे यह बात कदापि सिद्ध नहीं होती। अल्बरूनीके लेख का पूर्वापर विचार करने से यह मालूम होता है कि उसके मत से पूर्वोक्त करूर का युद्ध ५२४ ईसवी के बहुत पहिले हुआ था। अतएव इस बात को मान लेने में कोई बाधा नहीं कि विक्रमादित्य ने ही

इस युद्ध में शकों को परास्त किया था। इसी विजय के कारण वह शकारि नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी समय से और इसी उपलक्ष्य में उसने अपने नाम से विक्रम संवत् चलाया। यह जीत बहुत बड़ी थी। इसी कारण इसके अनन्तर शकों और अन्यान्य म्लेच्छों का पराभव करने वाले राजाओं ने विक्रमादित्य उपाधि धारण करना अपने लिए गर्व की बात समझा तब से विक्रमादित्य एक प्रकार की उपाधि या पदवी हो गई।

कल्हण ने राजतरंगिणी में विक्रमादित्य विषयक भूलें की हैं। हर्ष-विक्रमादित्य और शकारि विक्रमादित्य, दोनों को गड्ड मड्ड कर दिया है। डाक्टर स्टीन आदि विद्वानों ने इस बात को अच्छी तरह सिद्ध कर के दिखा दिया है। पुरातत्वज्ञ पंडित कल्हण की इन भूलों को बिना किसी सोच बिचार की भूलें कहते हैं। कल्हण के वर्णन से स्पष्ट है कि काशमीर के इतिहास का दो सम्बन्ध विक्रमादित्य से रहा है। एक मातृगुप्त को भेजने वाले हर्ष विक्रमादित्य से, दूसरे प्रतापादित्य के सम्बन्धी शकारि विक्रमादित्य से। इनमें से हर्ष-विक्रमादित्य ईसा के छठी शताब्दी के प्रथमार्द्ध में विद्यमान था। रहा शकारि विक्रमादित्य। सो यह हाल की सतसती में वर्णन किए गये विक्रमादित्य के सिवा और कोई नहीं हो सकता। ईसा के पूर्व, प्रथम शतक में शकों का पराभव करनेवाला वही था। इसका एक और प्रमाण लीजिए:—

विन्सेंट स्मिथ साहेब ने अपने प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में लिखा है कि शक जाति के म्लेच्छों ने ईसाके कोई १५० वर्ष पहले उत्तर-पश्चिमाञ्चल से इस देशमे प्रवेश किया। उनकी दो शाखायें हो गईं। एक शाखा के शकों ने तक्षशिला और मथुरा में अपना अधिकार जमाया और क्षत्रप नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके सिक्कों से इनका पता ईसा के १०० वर्ष पहले तक चलता है। इसके पीछे उनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं लगता। दूसरी शाखा वालों ने ईसा की पहली शताब्दी में काठियावाड़ को अपने अधिकार मे किया। धीरे धीरे इन लोगोंने उज्जैन को भी अपने आधीन कर लिया। इन्हे गुप्तवंशी राजाओं ने हराकर उत्तर की ओर भगा दिया। अच्छा, तो इनके पराभवकर्ता तो गुप्त हुए। पहिली शाखा के शकों का विनाश किसने साधन किया क्या विना किसी के निकाले ही वे इस देशसे चले गये? अपना राज अपना-अधिकार—क्या कोई यों छोड़ देता है! उनका पता पीछे से ऐतिहासिक लेखों से चलता क्यों नहीं? इसका क्या इसके सिवा और कोई उत्तर हो सकता है कि ईसा के ५७ वर्ष पहले विक्रमादित्य ही ने उन्हें नष्ट विनष्ट करके इस, देश से निकाल दिया? इसी विजय के कारण उसको शकारि उपाधि मिली और सम्वत भ सी घटना की याद में उसने चलाया। मुल्तान के पास करूर वाला युद्ध इन्हीं तक्षशिला और मथुरा के शकों और विक्रमादित्य के मध्य हुआ था। इसके सिवा उसका अब और क्या प्रमाण चाहिये।

इस पर भी शायद कोई यह कहे कि यह सब सही है। पर कोई पुराना शिलालेख लाओ, कोई पुराना सिक्का लाओ, कोई पुराना ताम्रपत्र लाओ जिसमें विक्रमसंवत् का उल्लेख हो। तब हम आप की बात मानेंगे, अन्यथा नहीं। खुशी की बात है कि इस तरह का एक प्राचीन लेख भी मिला है। यह पेशावर के पास तख्तेबाही नामक स्थान में प्राप्त हुआ है। इस लिए उसी के नाम से यह प्रसिद्ध है। यह उत्कीर्ण लेख पार्थियन राजा गुडूफर्स के समय का है। यह राजा भारत का उत्तर पश्चिमाञ्चल का स्वामी था। इस लेख में १०३ का अङ्क है, पर संवत का नाम नहीं। गुडूफर्स के सिंहासन पर बैठने के छब्बीसवें वर्ष का यह लेख है। डाक्टर फ्लीट और मिस्टर विन्सेंट स्मिथ ने अनेक तर्कनाओं और प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि यह १०३ विक्रम—संवत का सूचक है। राजा गुडूफर्स का नाम यहूदियों की एक पुस्तक में आया है। यह पुस्तक ईसा के तीसरे शतक की लिखी हुई है। इससे, और इस सम्बन्ध के और प्रमाणों से, यह निःसंशय प्रतीत होता है कि विक्रमसंवत् का प्रचार ईसा के तीसरे शतक के पहले भी था और मालवा ही में नहीं, किन्तु पेशावर और काश्मीर तक में इसका व्योहार होता था। इस पर भी यदि कोई इस संवत् का प्रवर्तक मालवाधिपति शकारि विक्रमादित्य को न माने और उस की उत्पत्ति ईसा के छठे शतक में हुई बतलाने की चेष्टा करें तो उसका ऐसा करना हठ और दुराग्रह के सिवा और क्या कहा जा सकता है।

पुराणों की प्राचीनता।



जनवरी १९१२ के "माडर्न रिव्यू" में बी० सी० मजूमदार महाशय का लिखा हुआ एक लेख पुराणों के विषय में संक्षेप प्रकाशित हुआ है। उसका भावार्थ, संक्षेप में, नीचे दिया जाता है।

संस्कृत में और उससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य भारतीय भाषाओं में "पुराण" शब्द का अर्थ पुरातन है। जब इस शब्द का व्यवहार संज्ञा की भांति किया जाता है तब उससे उन धार्मिक ग्रन्थों का मतलब लिया जाता है जिसमें प्राचीन समय के देवताओं, राजाओं और महापुरुषों की कीर्ति का वर्णन है। "पुराण" शब्द नया नहीं है, वह वेदों में भी पाया जाता है। वहां भी उसका वही अर्थ है जो उसके संज्ञा-रूपी का होता है। अथर्व-वेद के ग्यारहवें काण्ड के सातवें सूक्त में यह शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। इस से पुराणों की प्राचीनता प्रकट होती है। पौराणिक साहित्य उतना ही प्राचीन और पुनीत है जितने कि वैदिक मन्त्र, जैसा कि आगे चल कर प्रमाणित किया जायगा।

यज्ञ में वेद-मन्त्रों का काम पड़ता है, परन्तु कौन मन्त्र किस समय और किस प्रकार पढ़ा जाना चाहिये, इन बातों का वेदों में कहीं जिक्र नहीं। साम, ऋक् और अथर्व-वेद में केवल मन्त्र ही मन्त्र हैं। हां यजुर्वेद में अवश्य यज्ञ करने और मन्त्र

पढ़ने की प्रणाली का कुछ वर्णन है। पर मन्त्रों के महत्त्व और यज्ञों के विधानों का पूरा पूरा वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों ही में है। इन ग्रन्थों से मालूम होता है कि अमुक देवता की किस समय और किस मंत्र से प्रार्थना करनी चाहिए; अमुक मन्त्र का कर्ता कौन ऋषि है, पूर्व समय में कब और कौन मन्त्र से कौन यज्ञ किया गया। और क्या फल हुआ, और किस मन्त्र का उच्चारण किस प्रकार किया जाना चाहिए, इत्यादि। केवल मूल मन्त्र जान लेने से विशेष लाभ नहीं, मन्त्रों के देवता और उनकी प्रक्रिया का भी जानना आवश्यक है। इस बात का जानना तो सब से अधिक आवश्यक है कि अमुक मन्त्र की उत्पत्ति का इतिहास क्या है और पूर्व काल में उसके पाठ से क्या क्या लाभ हुए थे। अध्यापक लेनमन ने अथर्ववेद का एक बड़ा अच्छा संस्करण प्रकाशित किया है। इस में इस बात का भी उल्लेख है कि कौन सूक्त किस कामना को पूर्ण करने के लिए पढ़ना चाहिये। ब्राह्मण ग्रन्थ तो इन्हीं बातों से भरे पड़े हैं। ऋग्वेद के सब मन्त्रों के इतिहास का वर्णन बृहद् देवता नामक ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ के चौथे अध्याय में लिखा है कि दीर्घात्मा नामक एक व्यक्ति जन्म ही से अन्धा था। ऋगवेद के प्रथम काण्ड के कुछ सूक्तों के परायण से उसे फिर दृष्टि प्राप्त हो गई। वेद-मंत्रों का इस प्रकार का इतिहास उनके उच्चारण की विधि और उनके फल का निर्देश, यह सारा विषय समुदाय, पूर्व काल में, पुराण या पुराणेतिहास के नाम से उल्लिखित था।

वर्तमान काल में, यज्ञ करते समय, मन्त्रों के इतिहास (पुराण

सुनाने की रीति नहीं, परन्तु महाभारत के समय तक वेद-मन्त्रों के कीर्ति-गान की प्रथा प्रचलित थी। इस काम का भार पौराणिकों पर था। उदाहरण के लिए महाभारत की भूमिका देखिए, जहां पर पौराणिक उग्रश्रवा, यज्ञ करते समय, ऋषियों से यह पूछते हैं कि क्या आप लोग इतिहास सुनने के लिए तैयार हैं।

कृताभिषेकाः शुचयः कतजप्याहुताग्नयः।
भवन्त आसने स्वस्थाः ब्रवीमि किमहँ द्विजाः॥ ?

महाभारत की इस भूमिका में नीचे दिया गया श्लोकार्द्ध भी है, जिस से प्रकट होता है कि वेद-मन्त्रोच्चारण के समय पुराणेतिहास का वर्णन आवश्यक था:—

इतिहास-पुर [illegible] वेदं समुपबृहयेत।

प्रसिद्ध है कि कलियुग के आरम्भ में भगवान व्यास ने वेद मन्त्रों को यथाक्रम सजा कर उन्हें वर्तमान रूप में परिणत किया वहां पर इस बात के विचार की आवश्यकता नहीं कि किस समय और किस हिसाब से किसने वेदों को विभक्त किया। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस समय वह भाग,जो इतिहास पुराणके नाम से प्रसिद्ध था, वेदोंसे पृथक कर दिया गया। तभी आधुनिक पुराणों का जन्म हुआ समझना चाहिए।

शतपथ-ब्राह्मण तैत्तिरीय आरण्यक और उपनिषदोंसे विदित होता है कि प्राचीन समय में ब्राह्मण लोग भी इतिहास-पुराण का अध्ययन बड़े श्रद्धा और रुचि से करते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है :—

ऋग्वेदो वेदः यजु सामवेद अथर्वणश्चतुर्थ—
इतिहास-पुराण पञ्चमो वेदानां वेदः॥

इसके अनुसार अथर्व-वेद चौथा वेद और इतिहास-पुराण पांचवां है। भारतीय युद्धके बाद इतिहास-पुराण के कुरु-पाण्डवों की कथा से मिला कर महाभारत पञ्चम वेद के नाम से विख्यात हुआ है।

आधुनिक पुराणों में बहुत से राजा वंशों, राजाओ और देवताओं आदि का वर्णन है वैदिक पुराणों में भी केवल वेद-मन्त्रों ही का इतिहास न था। महाभारत में, जहां पुराणों का वैदिक श्रुतियों से घनिष्ट सम्बन्ध बतलाया गया है इस प्रकार के कितने ही लेख पाये गये हैं—

(१) "मया श्रुतिमिदं पुराणों पुरुषर्षभ"।
(२) अत्राप्युदाहरन्तीम मितिहासं पुरातनम्"।
(३) "श्रूयते हि पुराणोऽपि जटिला नाम गौतमी"

अथर्व-वेद के अन्तिम सूक्तों से भी प्रकट होता है कि पुराणेतिहास में केवल देवताओं हीका इतिहास नहीं किन्तु मनुष्यों का भी इतिहास रहता था। उसमें जगत् की उत्पत्ति, मनुष्य की उत्पत्ति और मन्वन्तर आदिके वर्णन के साथ ही साथ आदर्श राजाओं और बड़े बड़े राजवंशों का भी वर्णन रहता था। पुराणों में जहाँ जहां "पुराण" शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ वहाँ इस शब्द से तात्पर्य ऐसी सम

बातों से है। वायु-पुराण में पुराण की यह परिभाषा दी गई है:--

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

महाभारत से भी इसी मत की पुष्टि होती है। मेगास्थनीज लेखकों से भी विदित होता है कि उस समय हमारी जिन पुस्तकों में सृष्टि की उत्पत्ति आदि का हाल था उन्हीं में बड़े बड़े राज-वंशों, राजाओं और देश का इतिहास भी था। पाटलीपुत्र में उसने सर्ग-प्रतिसर्ग तथा भारत की अन्य ऐतिहासिक घटनाओं के हाल हिन्दुओं से साथ ही सुना था।

कुछ लोग जब तक किसी बात का वर्णन प्राचीन पुस्तक में नहीं देखते तब तक उसकी प्राचीनता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते। "पुराण" शब्द अथर्व-वेद और शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तो पाया जाता है, परन्तु पाणिनि के किसी सूत्र में उसका पता नहीं लगता। परन्तु इससे पुराणों की अर्वाचीनता सिद्ध नहीं होती। पाणिनि ने सारी पुराणी बातों का उल्लेख करने की प्रतिज्ञा थोड़े ही की थी। पुरानों की प्रचीनता ढूंढने के लिये अष्टाध्यायी के सूत्रों की पड़ताल करने की आवश्यकता नहीं। इसमें न सही, उससे भी पुरानी पुस्तकों में तो "पुराण" शब्द है।

इस बात का ठीक ठीक पता नइ लगता कि महाभारत के परिवर्तित होने के पहले पुराणेतिहास का क्या रूप था और उसकी क्या दशा था। सम्भव है, जिस प्रकार प्रत्येक वेद के ब्राह्मण,

अनुक्रमणिकायें, उपनिषद् आदि अलग अलग हैं उसी प्रकार प्रत्येक वेद के मन्त्रों की ऐतिहासिक बातों के सूचक पुराणेतिहास बातों के सूचक पुराणेतिहास भी अलग रहे हों। बृहद्देवता में जिन पुराणों का वर्णन है उनका अर्थ वेदों के मन्त्रों से तो सम्बन्ध है, परन्तु अथर्व-वेद के मंत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं। अथर्व वेद के मन्त्रों का पुराण भी रहा होगा। प्रत्येक वेद के मन्त्रों का पुराण भी अलग अलग रहा होगा--इस सम्भावना का एक कारण है। शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें, आत्रेय ब्राह्मण के पाचवें, और छान्दोग्य-उपनिषद् के चौथे अध्याय में लिखा है कि जब प्रजापति ने वेदों की प्राप्ति के लिए तप किया तब ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से सामवेद की सूर्य्य से और यजुर्वेद की वायु से हुई। वायु, अग्नि और सूर्य्य के नाम पर तीन आधुनिक पुराण भी हैं। इन तीनों पुराणों का पूर्वोक्त तीनों वेदों से सम्बन्ध होने ही के कारण उनके ये नाम पड़े। यही तीन पुराण--महाभारत के पहले रहे होंगे। अन्य आधुनिक पुराणों की उत्पत्ति महाभारत के पीछे हुई जान पड़ती है।

महाभारत के वनपर्व के १९१ वें अध्याय में और उसके अन्तिम पर्व के छठे अध्याय में आधुनिक पुराणों का ज़िक्र जरूरी है, परन्तु उन स्थलों को विचारपूर्वक पढ़ने से स्पष्ट मालूम होता है कि वे प्रक्षिप्त हैं। वनपर्व के १८८ वें अध्याय में ऐसी घटनाओं का वर्णन है जो महाभारत के समय के बहुत पीछे हुई हैं। आगे चलकर १९० वें अध्याय में, युधिष्टिर मार्क-

एडेय से पूछते हैं कि कलियुग में क्या होगा ? वे इस प्रश्न को पहले भी पूछ चुके हैं और मार्कण्डेय पूरा २ उत्तर भी दे चुके हैं। परन्तु वे उसे फिर पूछते हैं और मार्कण्डेय फिर अपने पूर्व उत्तर को दोहराते हैं। १९१ वें अध्याय में भी वही बातें कही गई हैं जो १९० वें में हैं। इसी अध्याय में यह श्लोक है:—

एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतातानागतं मया।
वायु प्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणं ऋषिसंस्तुतम्॥

कदाचित् यह संकेत यजुर्वेद के किसी पुराण की ओर हो। परन्तु महाभारत में अन्य सब पुराण सम्मिलित हैं और यह पञ्चम वेद कहलाता है। उसमें किसी पुराण का प्रमाण न होना चाहिए। इसी अध्याय में वायुपुराण की भी कुछ बातें उद्धृत हैं, जिनसे मालूम होता है कि किसी ने बहुत पीछे अपने समय का दिग्दर्शन कराने के लिये इस ग्रन्थ में कुछ अध्याय बढ़ा दिये हैं। ४९ वें श्लोक में वायु-पुराण का प्रमाण देते हुए कहा गया है कि भविष्यत् में लड़कियां पांच छः वर्ष की उम्र में ही गर्भवती हुआ करेंगी। परन्तु वायुपुराण के ५८ वें अध्याय के ५८ वें श्लोक में लिखा है कि कलियुग में लड़कियां सोलह वर्ष के उम्र के पूर्व ही गर्भवती हुआ करेंगी। उक्त श्लोक दो प्रकार से लिखा जाता है। उसके दोनो रूप ये हैं।

प्रणष्टचेतनाः पुंसो मुक्तकेशास्तु चूलिकाः।
ऊनषोडशवर्षाश्च प्रजायन्ते युगक्षये॥

दूसरे रूप में "प्रजायन्ते युगक्षये" के स्थान पर "धर्पमिष्यन्ति मानवान्" है।

श्लोक का दूसरा पाठान्तर विशेष शुद्ध मालूम होता है। परन्तु श्लोक के दोनों पाठों से यह स्पष्ट प्रगट होता है कि किसी समय भारत में सोलह वर्ष के पूर्व लड़कियों का विवाह न होता था।

महाभारत के अन्तिम पर्व के अन्तिम दो अध्यायों में भी अठारह पुराणों का जिक्र है। महाभारत में कई जगह इस बात का उल्लेख है कि संसार में इतने शास्त्र और इतनी विधवायें हैं। परन्तु कहीं भी अठारह पुराण का वर्णन नहीं। अतएव अन्तिम पर्व का छठा अध्याय निसन्देह प्रक्षिप्त है। इसके पहिले का अर्थात् पांचवां अध्याय भी पीछे से मिला दिया गया है, क्योंकि स्वर्गारोहण तो चौथे अध्याय में हो गया। पांचवें अध्याय में सिवा पहिले अध्यायों की बातों के और कुछ नहीं। उदाहरण के लिये पाचवें अध्याय के ६९५ वें और ६९६ वे श्लोक की केवल नकल है।

जब हम आधुनिक पुराणों की जांच की कसौटी पर कसते हैं तब मालूम पड़ता है कि सारे पुराण महाभारत के पीछे बने हैं। रहे वैदिक समय के पुराणेतिहास, सो वे कुरु-पाण्डवों की कथा से संयुक्त होकर महाभारत के रूप मे परिवर्तित हुए विद्यमान हैं। एक भी आधुनिक पुराण महाभारत के पहिले का नहीं।

पुराण वैदिक समय में भी थे। उस समय भी वे इतिहास-संयुक्त थे। पीछे से उन्हें पञ्चम वेद, महाभारत का रूप प्राप्त हुआ। इन बातों का वर्णन हो चुका। अब हम आधुनिक पुराणों की ओर झुकते हैं। आधुनिक पुराण सन् ईसवी से १४० वर्ष पूर्व के नहीं हैं। व्याकरण-महाभाष्य की रचना भी उसी समय की है। मनु-संहिता उससे भी पीछे की है। इन दोना पुस्तकों में दुर्गा, गणेश, महादेव आदि देवताओं का कहीं भी जिक्र नहीं। आधुनिक पुराणा में बहुत सी वैदिक कथायें हैं। परन्तु उन का रूप तोड़ मरोड़ कर कुछ का कुछ कर दिया गया है। बहुत सी कथायें नई भी हैं, उनमें नये नये राजवंशो और राजाओं का पूर्व-काल के राजाओं के बल-विक्रम और गौरव की कथायें लोग पुराणों में सुनते थे। इस कारण समय समय पर पुराणों की भाषा में भी परिवर्तन होना रहा है। जैसे जैसे आर्य-सभ्यता भारत में फैलती गई वैसे ही वैसे नये नये प्रदेश, नदी, पहाड़ और अन्य स्थानों के नाम पुराणों में आते गये। आधुनिक और वैदिक पुराणों में और भी कई प्रकार का भेद है। इन बातों पर विचार करने से प्रगट होता कि आधुनिक पुराण बहुत प्राचीन नहीं है। परन्तु एक बात अवश्य है। आधुनिक पुराणों में एक बार बन जाने पर उनमें उसके बाद विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। आधुनिक पुराणों में वैदिक समय के राजाओं और राजवंशों के नाम वैसे ही पाये जाते हैं जैसे कि वैदिक पुराणों में हैं। मत्स्य-पुराण में जहां

इक्ष्वाकु वंश का वर्णन है वहां लिखा है :—

अत्राणु-वंश्लोऽयं विप्रैर्गीतः पुरातनैः ।

इक्ष्वाकूनामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति ॥

इसी तरह अन्य पुराणों में राजाओं और राजवंशों का जो वर्णन है वह काल्पनिक नहीं है। उनमें उल्लिखित राज-वंशों द्वारा प्राचीन राजाओं का काल निरूपण में बड़ी सहायता मिल सकती है। पुराणों के राजवंश और तत्सम्बन्धी घटनायें इतिहास-प्रेमियों के बड़े काम की है।

पुराणों में गुप्तवंश के महाराजाओं तक ही का हाल मिलता है। इसलिये कुछ लोगों का ख्याल है कि पुराण गुप्त राजाओं के समय में बनाये गये। परन्तु बात ऐसी नहीं हैं। पांचवीं शताब्दी के अंत में गुप्तवंश हूण लोगों के आक्रमण से नष्ट हो गया। गुप्त वंश के बाद भारत मे कोई साम्राज्य न रह गया केवल छोटे छोटे बहुत से राज्य हो गये। देश में कोई साम्राज्य न रहने के कारण पुराणों में अन्य राजवंशों का नाम नहीं आया। गुप्तवंश के अन्त पूर्व भी नगर में कोई न साम्राज्य था। देश में अनेक छोटे मोटे राज्य थे। पर उन राजवंशों की कीर्ति का वर्णन पुराणों में है। गुप्तवंश के बाद राजाओं की कीर्ति का वर्णन करने वालों की कमी भी न थी। पांचवें शताब्दी के बाद यद्यपि पुराणों में किसी बड़े अंश या साम्राज्य का उल्लेख नहीं तथापि बहुत से ऐसे प्रमाण मिलते भी हैं, जिनसे प्रगट होता है कि उस समय छोटे छोटे

रानाओं और राज्यों के वर्णन से पुराणों के आकार की अच्छी वृद्धि हुई है। भिन्न भिन्न स्थानों में पुराणों के बढ़ाये जाने का काम हुआ है। उड़ीसा में ब्रह्मपुराण बढ़ाया गया, गया में अग्निपुराण में कितने ही अध्याय मिलाये गये हैं, पुष्कर में पद्मपुराण में पुष्कर की कथा और कालिदास-कृत शकुन्तला और रघुवन्श के उल्लेख को भी स्थान दिया गया। यह सब मिश्रण तो अवश्य होता रहा, परन्तु पुराणों की उस रचना-शैली में कोई परिवर्तन नहीं किया गया जिसका समय सम्भवतः सन ईसवी के सौ दो सौ वर्ष पहले का जान पड़ता हो

कर्म-काण्ड के सुभीते के लिए ही वेदों का क्रम-विभाग हुआ पुराण उनसे पृथक किये गये। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि पुराणों के बनाने वाले व्यास जी ही थे। महाभारत मे भी ऐसा नहीं लिखा है। महाभारत में केवल इतनाहीं लिखा है कि व्यासजी अपने ने शिष्या का पुराण पढ़ाया आर इन शिष्यो ने पुराणां की उन्नति की।

अब यदि कुरुपाण्डवों की कथा पृथक करदी जाय तो महाभारत ही से पतालगता है कि पुराणों की उत्पत्ति" लोमहर्षण" द्वारा हुई रही भारतीय कथा, सो उसे व्यासजी के शिष्यों ने रचा।

"लोमहर्षण" शब्द की व्याख्या वायुपुराण में इस तरह की गई है—

लोमानि हर्षयांञ्चक्रे श्रोतृणां यत्सुभाषिते।
कर्म्मणा प्रथितस्तेन लोकेऽस्मिन् लोमहर्षणः॥

इससे मालूम होता है कि पुराण किसी एक व्यक्ति के बनाये हुए नहीं हैं। "लोमहर्षण" एक जाति थी जो लोगों को कौतूहल-वर्द्धक घटनायें सुनाया करती थी, जिनके श्रवण से शरीर के रोम खड़े हो जाते थे।

पुराण समय पर बनाये गये, यह बात पुराणों ही से सिद्ध होती है। जिस क्रम से पुराण बनाये गये हैं उस क्रम का प्रायः सभी पुराणों में वर्णन है। सबसे पहले ब्रह्म-पुराण बना। उसके पीछे (२) पद्म (३) विष्णु (४) वायु (५) भागवत (६) नारद (७) मार्कण्डेय (८) अग्नि (९) भविष्य (१०) ब्रह्म-वैवर्त (११) लिङ्ग (१२) वराह (१३) स्कन्द (१४) वामन (१५) कूर्म (१६) मत्स्य (१७) गरुड़ और सबसे पीछे (१८) ब्राह्माण्डपुराण। सूची सब पुराणों में पीछे से जोड़ दी गई जान पड़ती है।

जो लोग पुराण पढ़ते थे वे सूत कहलाते थे। आधुनिक स्मृतियों में सूतों और मागधों का बहुत नीचा स्थान दिया गया है। वायु पुराण में लिखा है कि सूत को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, परन्तु महाभारत की भूमिका में जिन सूत जी का नाम है वे इतने मान्य थे कि ब्राह्मणों तक ने उनकी प्रतिष्ठा की। कितने ही पुराणों में वर्णन है कि नारद और मार्कण्डेय के सदृश मुनियों तक ने पुराणेतिहास सुनाकर सूत का काम किया था। वैदिक समय में बड़े बड़े प्रतिष्ठित ब्राह्मण पुराण कहते थे। पीछे से सूत लोग पुराण सुनाकर रुपया कमाने लगे। मालूम होता है कि इसी कारण समाज ने उनको नीचे गिरा दिया।

एक कारण और भी हो सकता है। जब मगध के राजाओं के हाथ में भारत का साम्राज्य आया तब ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य जातियों ने भी पुराणेतिहास सुनाने का काम अपने हाथ में ले लिया। इसी कारण सूतों की प्रतिष्ठा उतनी न रही जितनी पूर्ववर्ती सूतों की थी। इस समय तो ब्राह्मण ही पुराणपाठी हो रहे है।



सोम–लता



प्राचीन आर्यों की सबसे प्यारी चीज सोमलता थी। सोम, सोम-रस, सोम–लता, सोम–सुरा आदि के गुणगान से वैदिक साहित्य भरा पड़ा है। वैदिक समय में सोम–लता और सोम–रस का यज्ञादिक में इतना काम पड़ता था जितना शायद ही और किसी चीज का पड़ता रहा हो। सोम–याग, सोम–याजी, सोम–पायी आदि शब्द सोम ही की महिमा सूचक हैं। शुक्ल–यजुर्वेद–संहिता के उन्नीसवें अध्याय में जहां सौत्रामणी यज्ञ का विधान है सर्वत्र सोमही सोम और सुराही सुरा का साम्राज्य देख पड़ता है। उसकी स्तुति, प्रार्थना, प्रशंसा, गुणकीर्तन, पान, विधान आदि के विषय में अनेक मंत्र हैं। ऋग्वेद का नवां मण्डल भी सोम–गुण-गान से भरा है। पर यह सोम–लता आज कलही क्यों, बहुत पहले से अप्राप्य हो रही है। अब जहां कहीं यज्ञादि में उसका काम पड़ता है वहां उसका स्थान किसी और ही चीज को देना पड़ता है।

सुश्रुत ने सोमको एक प्रकार की अमृतात्मक दिव्य औषधि मानी है। उसकी उत्पत्ति, नाम, गुण और सेवन की क्रिया का जो वर्णन सुश्रुत ने किया है सुनने लायक है। सुश्रुतके कथन का भावार्थ हम नीचे देते हैं—

किसी बहुत पुराने ज़माने में ब्रह्मादिक देवताओं ने सोम नाम

का अमृत उत्पन्न किया। क्यों? इस लिए कि लोगोंको जरा और मृतुका भय न रहे—"जरामृत्युविनाशाय" अर्थात् इसके सेवनसे आदिमी अजरामर हो जाय इसका सेवन जरा और मृतु के विनाश के लिए है।

सच पूछिये तो सोम नामक औषधिरूपी अमृत एकही है पर स्थान, नाम, आकार और वीर्यके अनुसार वह चौबीस प्रकार का होता है। यथाः—(१) अंशुमान् (२) मुञ्जमान् (३) चन्द्रमा (४) रजतप्रभ (५) दुर्वा-सोम (६) कनीययान् (७) श्वेताक्ष (८) कनकप्रभ (९) प्रतान वान (१०) तालवृन्त (११) करवीर (१२) अंशवान् (१३) स्वयंप्रभ (१४) महासोम (१५) गरुड़ाहृत (१६) गायत्र्य (१७) त्रैष्टुभ १८ पांक्त (१९) जागत (२०) शाङ्कर (२१) अग्निष्टोम (२२) रैवत (२३) यथोक्त (२४) त्रिपदा-गायत्र्यायुक्त उडुपति) विद्यावारिधि श्रीमत्पण्डित ज्वालाप्रसाद जी मिश्रने अपनी यजुर्वेदीय मिश्र-भाष्यके पीछे सोमविषयक एक परिशिष्ट दिया है। उसमें आपने त्रिपदा-गायत्री युक्त और उडुपति ये दो नाम पृथक पृथक माने हैं। परन्तु ऐसा करने से सुश्रुत की लिखी हुई चौबीस संख्या नहीं रहती; पच्चीस हो जाती है।

पाठक देखेंगे, इन नामों में कुछ नाम तो वैदिक छन्दों के नामानुसार हैं और कुछ चन्द्रमा के गुण-नामानुसार। परन्तु कनीययान्, तालवृन्त आदि में दोनों बातें नहीं हैं। वे स्वतन्त्र नाम हैं, शायद वे सोमलता की छुटाई बड़ाई के अनुसार रक्खे

गये हों। सुश्रुत के कथनानुसार सब वैदिक नाम हैं। पर सबके सेवन की विधि और गुण एक ही है। अब सोम का उपयोग किस तरह करना चाहिए सो सुनिए।

जिसे सोम-सेवन की इच्छा हो वह एक अच्छी जगह ढूंढ़ कर वहां एक त्रिवृत-तीन पौठ या घेरे का-घर बनावे। फिर सामग्री और नौकर चाकर लेकर वहां जाय वमन और विरोचन आदि से शरीर के सब दोषों को दूर कर दे। खाना-पीना सब नियमानुकूल होने दे। फिर अच्छी महूर्त में अंशुमान् नामक सोम को वैदिक विधि से लाकर ऋत्विजों के द्वारा उसे परिष्कृत करावे-धुलवाये, छिलवाये, साफ करावे। यह हो चुकने पर उसका हवन कराकर मङ्गल-पाठपूर्वक घर के भीतर यथा स्थान सोम की जड़ (कन्द) को सोने के शलाका से फाड़े। उससे जो दूध (रस) निकले उसे सोने के वर्तन में रख कर उसमें से अञ्चला चुपचाप एकही दफे गले से उतार दे। पीते समय उस रसका स्वाद न ले, वह जीभ में न लगावे। फिर आचमन कर बचे हुए रसको पानी में डाल दे। यम-नियमों द्वारा चित्त-वृत्तियों को काबू मे रक्खे। बोले नहीं। मकान ही के भीतर अपने इष्ट मित्रो सहित रहे। निर्वात् स्थान में रहे-जहां रहे वहां हवा न आती हो। चित्त औषधिही की तरफ लगाये रहे। जी चाहे बैठे, जी चाहे घूमे, पर सो न जाय।

शाम को भूख माल्म हो तो भोजन करे। पर क्या भोजन यह न तो सुश्रुत ही महाराज ने लिखा, न उनके टीकाकार डल्ल-

न ही ने। इसके बाद शान्तिपाठ सुनकर मित्र जनों ने सेवा किया गया वह मनुष्य कुश-शय्या* के ऊपर काला मृगचर्म बिछाकर सो जाय। प्यास लगे तो ठण्ढा जल पि : सवेरे उठकर शान्ति-पाठ सुने और मांगलिक कार्य या मंगलाचरण करके गऊ का स्पर्श करे। अनन्तर पहले की तरह बैठे। यहां पर "तथैवासीत्" का अर्थ पण्डित ज्वाला प्रसादजी "पूर्व की ओर बैठे" लिखा है। पर हमने डल्लनाचार्य के अर्थ का अनुगमन किया है। दोनो में जो अर्थ ठीक हो पाठक उसे ही स्वीकार करें! सोमरस के पच जाने पर कै शुरू होती है। कै में रुधिर निकलता है। उसमें कीड़े रहते हैं। कै होने पर शाम को गरम करके ठंढा किया दूध पिलाना चाहिए। तीसरे दिन विरेचन होता है और मल के साथ भी कीड़े निकलते हैं। इस वमन विरेचन से शरीर शुद्ध हो जाता है। अनिष्ट भोजनों से पैदा हुआ दोष दूर हो जाता है। इसके बाद, अर्थात् तीसरे दिन शाम को स्नान कराकर फिर दूध ही पीने को देना चाहिए। रात को क्षौमवस्त्र बिछाकर शय्या पर सुलाना चाहिए। किसी की राय में क्षौमवस्त्र रेशमी कपड़ों को कहते हैं और किसी की राय में सन या अलसी की छाल से बने हुए कपड़ों को।

चौथे दिन उस बदन में सूजन आ जाती है। सब अंगो से कीड़े

---

* श्रीमत्पंडित ज्वाला प्रसाद जी की राय में कुश शय्या से मतलब कुश के तृणों से बनी हुई खाट से है।

टपकने लगते हैं। तब उसे धूल बिछाकर शय्या पर सुलाना चाहिए और पूर्ववत् दूध पिलाना चाहिए। पाँचवें और छटे दिन भी यही उपचार करना चाहिए। दोनों वक्त सिर्फ दूध पिलाना चाहिए। सातवें दिन उसका मांस और त्वचा गलकर गिर जाती है। हड्डी मात्र शेष रह जाती है। पर सोमपान के प्रभावसे वह मरता नहीं श्वासोच्छ्वास जारी रहता है। उस दिन गुन-गुना दूध उसके अस्थि-पञ्जर पर छिड़कना चाहिए और नित्य, मुलहटी और चन्दन का लेप लगाना चाहिये। यह करके फिर दूध पिलाना चाहिए। पर शरीर का मांस गल जाने से दूध उसके पेट तक पहुंचेगा कैसे और वहां आमाशय में ठहरेगा किस तरह, यह समझ में नहीं आता।

आठवें दिन बड़े सवेरे ही शरीर पर दूध छिड़क कर चन्दन लेप करे। पूर्ववत् शय्यासे धूल उठाले। उस पर क्षौम-वस्त्र बिछाकर उसे सुलावे। उस दिन से नया मांस उत्पन्न होने लगता है और त्वचा भी उसी के साथ निकलने लगती है। दांत, नख और रोम सब गिर जाते हैं। नवें दिन उस के शरीर पर अणु नासक तैल लगाना चाहिए और सोम की छाल के काढ़े से सेचन कराना चाहिए। दसवें दिन भी यही उपचार करे। तब तक त्वचा जरा कड़ी हो जाती है। ग्यारहवें और बारहवें दिन भी पूर्ववत् बर्ताव करे। तेरहवें दिन से सोलहवें दिन तक सिर्फ सोम की छाल के काढ़े से सेचन सत्रहवें और अठारहवें दिन नये दाँत निकलते हैं। दाँत खूब चिकने, नोकदार और सम

कीले, होते हैं—ऐसे चमकीले जैसा हीरा,स्फटिक या वैदूर्य होता है। सब दांत एक से होते हैं; छोटे बड़े नहीं होते। खूब मजबूत और बड़े से बड़ी चीज़ तोड़ सकने योग्य होते हैं। उस दिन से पचीसवें दिन तक पुराने चाँवलों का भात, दूध और पचागू के साथ मजे में खाता रहे।

छब्बीसवें दिनसे दोनों वक्त चावलका नरम भात सिर्फ दूध के साथ खाय। तब नये नाखुन निकलते हैं। वे मूँगा, वीरबहूटी और प्रातः कालीन सूर्यके सदृश सुर्ख होते हैं। चिकने भी होते हैं और "स्थिर" भी होते हैं केश भी नये निकल आते हैं। त्वचा भी उत्पन्न होकर सम्पूर्णता को पहुंच जाती है। उसका रङ्ग विष्णु भगवान् की त्वचाके रङ्गका ऐसा होता है-नाल कमल, अलसीके फूल और वैडूर्य्य मणि का जैसा रङ्ग होता है वैसा।

एक महीने बाद सिरके बाल मुंडवा देने चाहिए और उसपर उशीर, चन्दन और काले तिलका लेप लगाना चाहिए; अथवा दूधसे स्नान कराना चाहिए। मुँडवाने के सात दिन बाद नये केश निकलते हैं। वे भ्रमर और काजल के समान काले होते हैं, घुंघराले भी होते हैं, और खूब चिकने भी होते हैं।याद रहे, अब तक सोमयाजी महाशय तीन कक्षा (तीन पौर) के घरके भी तर तीसरी कक्षा ही में रहे हैं। पर अब तीन रातें और बीत जाने पर, भीतरी कमरे से निकल कर दूसरे में आवें और जरा देर रहकर फिर भीतर ही उसी कमरे में घुस जायं। इसके बाद बला नामक तैल चन्दन पर, मलने के लिए, जौके आटे का उबटन लगाने के लिए

गुनगुना दूध शरीर सेवन के लिएआजकर्ण नाम की औषधि का काढ़ा "उत्सादन" के लिए, खस पड़ा हुआ कुएँ का पानी स्नान के लिये चन्दनका लेप के लिए दिया जाय। खाने के लिए आँवले का रस मिला हुआ, यूष और दाल आदि दे। दूध और मुलहटी से सिद्ध किये हुए तिल "अवचारण" के लिए दे। दस रात तक यह काम जारी रक्खे।

इसके बाद सब से भीतर के कमरे को छोड़कर दूसरे कमरे या दरजे में आवे। इसमें भी दस रात पूर्ववत् रहे। फिर सब से बाहर के, अर्थात् पहले कमरे में आवे और आत्मा को स्थिर करके दस रात तक वहां रहे। थोड़ी देर धूप और वायु का सेवन करके भीतर चला जाया करे। परन्तु भूल करके भी कभी अपना मुंह आइने में देखें। क्यों कि उस समय उसके मुंह पर अद्भुत सौन्दर्य आ जाता है। इसके बाद १० रात क्रोध आदि विकारों के वशीभूत न हो। सब प्रकार के सोमामृत के सेवन की यही विधि है। विशेष करके वल्ली, प्रतान और क्षुप जाति के सोम का सेवन करना चाहिए। इनके सेवनाय रसकी मात्रा कोई पाव भर है परन्तु ऊपर सोम के जो२४ प्रकार गिनाये हैं, उनमें वल्ली और क्षुप नाम नहीं आया। शायद उन्हीं में से किसी दो के ये नामान्तर हैं।

अंशवान् नाम के सोम का रस सोने के पात्र में निचोड़े; चन्द्रमा का चांदी के पात्र में। इनके सेवन से मनुष्य को अणिमादिक आठ सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। यही नहीं, किन्तु वह ईशान

देव (शिव) में लीन हो जाता है। बाकी के जो सोम हैं उनके रस को तांबे के, या मिट्टी के, या लाल चमड़े के पात्र में निचोड़े। शूद्रों के लिए यह रस नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इन्हीं तीनों को इसे पीना चाहिए। सोम-रसायन पिये जब चार महीने हो जायं तो पौर्णमासी के दिन किसी पवित्र स्थान में ब्राह्मणों को पूजा करके मङ्गलपाठ पूर्वक उस घर के बाहर निकले और फिर मजे में जहां चाहे घूमे फिरे।

जो मनुष्य औषधियों के स्वामी सोम का सेवन करता हैं उसका नया शरीर, दस हजार वर्ष तक बना रहता है। आग पानी, अस्त्र, शस्त्र, और विषाद एक भी उसे बाधा नहीं पहुँचा सकते–इसके मारने में यह एक भी समर्थ नहीं होते। साठ वर्ष की उम्र वाले महामदोन्मत्त हजार हाथियों का इतना बल उसके शरीर में आजाता है। उत्तर कुरु ही नहीं, क्षीरसागर और अमरावती तक वह बेखटके जा सकता है, कोई उसका रोकने वाला नहीं। अर्थात् जहाँ वह चाहे जा सकता है। रूप उसका कन्दर्पतुल्य हो जाता है, कान्ति उसकी चन्द्रमा के समान हो जाती है। उसके शरीर में ऐसी अपूर्व द्युति आ जाती है कि उसे देखकर प्राणिमात्र परमानन्द में मग्न हो जाते हैं। उसको सांगोपाङ्ग वेद भी आ जाते हैं। वह देवताओं के समान हो जाता है। उसका कोई सङ्कल्प व्यर्थ नहीं जाता। जो चाहे कर सकता है।

जितने प्रकार के सोम है सब में पन्द्रह ही पत्ते होते हैं। वे शुक्ल पक्ष के १५ दिनों में एक एक करके पैदा होते हैं और

कृष्ण पक्ष में एक एक करके गिर जाते हैं। पूर्णिमा के दिन पूरे १५ पत्ता हो जाते हैं और अमावस्या को एक भी नहीं रहता।

अंशुमान सोम में घी के सदृश सुगन्ध होती है। राजप्रतम में कन्द होता है। मुञ्जवान में केले की तरह का कन्द होता है। उसके पत्ते लहसुन के पत्तों के समान होते हैं। चन्द्रमा नाम के सोम में सोने के सदृश चमक होती है वह हमेशा जल में होता है। गरुडाहृत और श्वेताक्ष सफेद रंग के होते हैं। आकार उनका सांप की केचुली के सदृश होता है, पेड़ों के अग्रभाग में वे लिपटे रहते हैं। इन दोनों सोमों में अनेक प्रकार के चित्रविचित्र मण्डल (घेरे) बने रहते हैं जितने सोम हैं सब में १५ ही पत्ते होते हैं। किसी में मोटी जड़ होती है, किसी में दूध होता है, किसी को लता होती है, किसी के पत्ते किसी प्रकार के होते हैं, और किसा में मोटी जड़ होती है किसी में दूध होता है, किसी की लता होती है, किसी के पत्ते किसी प्रकार के होते हैं और किसी के किसी प्रकार के।

हिमालय, अर्बुद (आबू) सह्याद्रि, महेन्द्र, मलयाचल, श्री पर्वत, देवगिर, देवसह, पारिपात्र, विन्ध्याचल आदि पर्वतों में सोम अत्यन्त होते हैं। देवसुन्द नाम के सरोवर में भी वे होते हैं।

व्यास नदी के उत्तर में जो पांच बड़े बड़े पर्वत हैं उनके मध्य और अधोभाग्य में सिन्धु नाम की महानदी है। उसमें चन्द्रमा नाम का उत्तम सोम पानी पर तैरा करता है। उसी के पास

अंशुमान् और मुञ्जवान् सोम भी होते हैं। काश्मीर में क्षुद्र मानसरोवर नाम का एक दिव्य तालाब है उसमें गायत्र्य, त्रैष्टुभ, जागत, पांक्त और शंकर नाम के सोम होते हैं। चन्द्र तुल्य कान्ति वाले और सोम भी यहां होते हैं।

परन्तु ये सोम सबको नहीं देख पड़ते। अधर्मी, कृतघ्न ब्राह्मण द्वेषी मनुष्यों को इनके दर्शन अलभ्य हैं।

सुश्रुतजी के लेख का यही मतलब है। यद्यपि यह कलियुग है अधर्म, कृतघ्नता और ब्रह्मणाद्वेषी का साम्राज्य है, तथापि धर्मिष्ट कृतज्ञ और ब्राह्मणों तथा वेदों की पूजा करने वाले भी पुरुष एक आध अब भी जहां तहां देखे जाते हैं। सोमों के नाम, लक्षण और उत्पत्ति-स्थान साफ़ साफ सुश्रुत में दिये हुए हैं। सोमरस-पान और तत्सम्बन्धी उपचार भी बहुत कठिन नहीं हैं। और लोग नहीं तो अमीर आदमी तो जरूर ही उन्हें कर सकते हैं क्या ही अच्छा हो यदि कोई एक आध प्रकार के सोम का पता लगाकर किसी अच्छे वैद्य से अपना काया कल्प करा डाले और हज़ार हाथियों का बल प्राप्तकरके त्रिलोकी में आनन्दपूर्वक विचरण करे। यदि गवर्नमेंट को ऐसे ऐसे १००आदिमी भी मिल जाँय तो मानों उसे एक लाख हाथी मिल गये। ऐसा होने से उसे जो लाखों सैनिक रखने पड़ते हैं उनकी कोई जरूरत न रहे। सिर्फ एक कम्पनी से सब काम निकल जाय। करोड़ों रुपये की बचत हो। मालूम होता है, अधर्म और कृतघ्नता आदि की बहुत वृद्धि होने से भगवान सोम् सदा के लिए इस देश से अन्तर्हित हो गये हैं। हम लोगों

का अहोभाग्य है जो सोमकी तरह भगवान भी बिलकुल ही अदृश्य नहीं हो गये।

सुश्रुत जी के लेख से साफ तौर पर सिद्ध होता है कि उनके जमाने में, या उनके पहले, सोम ऐसा पवित्र पदार्थ चमड़े के वर्तन में भी रक्खा जाता है। जिस चमड़े को छूकर आजकल, इस अधर्मिष्टता के जमाने में, हम लोग हाथ धोते हैं वह उस समय अपवित्र नहीं माना जाता था। किसी सोमरस के लिये सोने के, किसी के लिये चांदी के किसी के लिए तांवे और मिट्टी के पात्रों का विधान किया है। यह पात्र-कल्पना या तो सोने के स्वभाव और गुण के अनुसार की गई होगी या पान करने वाले के सामर्थ्य के अनुसार। जिसके पास सोने के न हों वह चांदी के पात्र में निचोड़ा जाने वाला सोम पिये। वह भी न कर सके तो ताँबे, मिट्टी या चमड़े के पात्र वाले को पिये। परन्तु गरीबों के लिये उसका पान भी शायद असम्भव था। क्योंकि तीन पीठ का घर और सोने का सिक्का मिलना उनके लिए कठिन समझना चाहिये। शूद्रों के लिए सोम रसायन पीने की जो मनाई है सो उचित है। वेदों का पढ़ना जब उनके लिये मना है तब कायाकल्प करके देवता बन जाना जरूर ही से मना होना चाहिये। कौन सच्चा स्वदेश भक्त अंगरेज चाहेगा कि कोई हिन्दोस्तानी काला आदिमी भारत का बड़ा लाट हो जाय?

जिस कायाकल्प का उल्लेख सुश्रुत जी ने किया है वह किसे किसे प्राप्त हुआ था, उसका पता पुराणादि प्राचीन ग्रन्थों से ढ़ूंढ कर कोई लगावे तो बहुत अच्छा हो। सुश्रुत जी के बहुत पीछे के बने हुए ग्रन्थों में वाजीकरण आदि औषधियों के गुणों का वर्णन वैद्यों ने बड़ी ही अलंकारिक भाव में किया है। चूर्णमिदं पयतां निशिपेयं यस्य गृहे प्रमदाशत्—मस्ति—इस तरह के अत्युक्ति-पूर्ण लटके इन ग्रन्थों में हज़ारों भरे पड़े हैं। परन्तु सुश्रुत जी के कायाकल्प विधान को ऐसा नहीं कह सकते। वे ऋषि थे। अतएव सत्यवादी थे। उन्होंने कुछ लिखा होगा, बढ़ाकर न लिखा होगा। यदि उनके जमाने में इस तरह का कायाकल्प किसी को भी न सिद्ध हुआ होगा, तो भी उन्होंने उसका उल्लेख अपने पूर्ववर्ती ऋषियों के ग्रन्थों के आधार पर किया होगा। पर कुछ प्रमाण या कुछ आधार उनके पास रहा जरूर होगा।

सुश्रुत के बाद के ग्रंथकारों ने इस सोम-रसायन के पान की प्रक्रिया का वर्णन नहीं किया। किसी ने किया भी है तो कुछ यों ही नाम मात्र के लिये लिख दिया है। इससे जान पड़ता है कि धीरे धीरे लोग इसे बिलकुल ही भूल गये। अथवा इस शास्त्रोक्त पान और विधान असम्भव जाने लगा।

चरक जी भी आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणाली के आचार्य माने जाते हैं। इनके ग्रन्थ में लिखा है कि सोम [चन्द्रमा] की एक एक कला की वृद्धि के साथ साथ सोमलता का

एक एक पत्ता नया होता जाता है और उसके ह्रास के साथ साथ एक एक पत्ता गिरता भी जाता है। इसी से इस लता का नाम सोम पड़ा। 'सोम' शब्द "सु" धातु से बना है। इस धातु का अर्थ प्रसव करना—पैदा करना है। सोम अमृत पैदा करता है, इसकी किरणों में अमृत रहता है-इसी मे वह सोम नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सुश्रुत जी के कथनानुसार सोमलता का रस भी अमृत ही के समान गुणकारी होता है। अतएव हिसाब से इस लता का भी सोम नाम यथार्थ है। यहां पर कोई यह शंका करे कि सोमलता तो अदर्शनत्व को प्राप्त हो गई है, पर सोमोयनः नामक चन्द्मा अब तक बने हुए हैं। चन्द्रमा अमृत टपकाने के लिये प्रसिद्ध है। परन्तु उसकी किरणों से अमृत का एक कण भी टपकते किसी ने नहीं देखा। अतएव क्या आश्चर्य जो चन्द्रमा के अमृत टपकाने की कथा की तरह सोमरस के पान से अमृत-पान के गुण होने की कथा भी वाग्विलास मात्र हो?

---

* मूल पाठ यह है :—उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धाये महीधरा।
पञ्च तेपामधो मध्यं सिन्धु नाममहानदः।
हठवत्प्लवते तत्र चंद्रमाः सोमसत्तमः॥

इसका भावार्थ पं० ज्वाला प्रसाद जी ने इस तरह लिखा है "व्यास नदी के उत्तर पर्वतों तथा जहां पंजाब की पांचो नदी सिन्धु में मिलती हैं। वहां चन्द्र नामक सोम उत्पन्न होता है"।

अथवा सोमलता की कथा चन्द्रमाही के पौराणिक गुणधर्मों का एक रूप हो, बात यह है कि जिसे ऐसी कथाओं पर विश्वास नहीं वह यही क्या और भी सैकड़ों शंकायें कर सकता है। मानिए तो मान लीजिए नहीं तो सशंक या निःशंक जैसे जी में आवे बैठे रहिये।

आयुर्वेद-विषयक बातों को छोड़कर अब सोम-विषयक वैदिक बातों का विचार कीजिए। वैदिक समय में सोम का बड़ा आदर था। ऋषि मुनि सब उसे प्रेम से पीते थे। वह बड़ी ही पवित्र चीज मानी जाती थी। देवताओं को उसका भोग लगाया जाता था। उसे खुद भी देवत्व प्राप्त था। वह यज्ञों में काम आती थी। ऋग्वेद के नवें मण्डल में सोम की बड़ी बड़ी स्तुतियां हैं। यजुर्वेद के उन्नीसवें अध्याय में सौत्रामणि यज्ञ का विषय है। वहां सोम की बड़ी ही महिमा गाई गई है। देवता के समान उसकी स्तुति की गई है। उससे वर मांगे गये हैं। परन्तु उसके साथ ही उसके मादक गुण की गाथा को गाई गई है। यहां तक 'सुरा त्वमसि शुष्मिणी' कहकर वह सुरा-सोम के नाम से अभिहित किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो सुरा सोम बनाने की विधि भी लिखी हुई है। उससे सूचित होता है कि सोमलता के रस में जो, चावल, त्रिफला, शुण्ठी, पुनर्नवा, अश्वगन्धा, पिप्पली आदि डालकर रक्खे जाते थे। तब उसमें मादकता आ जाती थी। वही रस छान कर पिया जाता था

विद्वानों की राय है कि यही सोम-सुरापान करने वाले सुर नाम से आख्यात हुए, और जिन्हें उसका पीना पसन्द नहीं था, अथवा जो बहुत कम पीते थ, वे असुर कहलाये। सुर, प्राचीन आर्य्यों के पूज्य हुए और असुर प्राचीन पारसियों के। यजुर्वेद के उन्नीसवें अध्याय में जिस सुरा का वर्णन है वह यदि एक प्रकार का मद्य ही था, जैसा कि वैदिक मंत्रों से सूचित होता है, तो उसे आर्य लोग आदर-पूर्वक पीते थे। वाग्भट-कृत अष्टाङ्ग हृदय में भी यही लिखा है—"सौत्रामण्यां द्विजमुखे या हुताशे च हूयते।" अर्थात् सौत्रामणी यज्ञ में सुरा अग्नि में होमी भी जाती है और द्विजों को पिलाई भी जाती है। अतएव वाग्भट के अनुसार सोत्रामणी यज्ञ में जो सुरापान की जाती थी वह कोई असाधारण सुरा न थी। मामूली मदिरा थी।

वैदिक समय में लोग सोमरस को यों भी पीते थे और उसमें मादकता उत्पन्न करके उसकी सुरा बना कर के भी पीते थे। परन्तु एक बात समझ में नहीं आती। यदि सुश्रुत जी के कथनानुसार सोम-रस में वमन और विरेचन आदि उत्पन्न करने का गुण था तो बहुत पुराने वैदिक समय में तो सोमरस पान किया जाता था। उसमें यह बात क्यों न थी। उसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि सोमरस पीने वाले को छर्दि होती थी। या उनका मांस गल जाता था। या और कोई बात वैसी होती थी। सोम-रसायन पीने की जो विधि सुश्रुत में दी गई है उसमें सोम-रस के साथ और कोई औषधि मिलाने की बात नहीं है। जो यह

कहें कि उसके कारण, वमन, विरेचन आदि उत्पन्न करने की शक्ति सोम-रस में आ जाती हो। इधर वैदिक सुरा में अन्यान्य चीजें जरूरी मिलाई जाती थीं। उनके कारण सोम का वह गुण यदि जाता रहता था, तो यों ही जो लोग सोमरस पीते थे उनके शरीर में कोई विकृति क्यों न होती थी।

जिस औषधि का जो गुण है वह होना ही चाहिए। वेदों में खालिस सोमरस-पान का भी उल्लेख है। पर, उसके पीने से क्या फल होता था—छर्दि आदि कुछ होती थी या नहीं इसका कहीं उल्लेख नहीं। ब्राह्मण-ग्रंथों में खालिस सोम-पान की विधि नहीं लिखी। यज्ञों में जिस सोम का प्रयोग था उसमें और कितने ही चीजें मिलाई जाती थीं। तब उसमें विशेष मादकता उत्पन्न होती थी।

डा० राजेन्द्रलाल ने गवर्नमेंट आव इंडिया को एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने वादा किया था कि कुछ समय बाद हम सोम पर एक विस्तृत लेख प्रकाशित करेंगे। परन्तु डाक्टर साहेब का यह लेख देखने में नहीं आया। शायद वे लिख नहीं सके, उसके पहले ही उनकी मृत्यु हो गई।

आपस्तम्ब-यज्ञ-परिभाषा में सोमलता बेचने वाले जङ्गली आदमियों से उसके मोल लेने आदि की विधि लिखी हुई है। धूर्त * स्वामी की टीका में सोमलता का जो लक्षण दिया हुआ है उसमें लिखा है कि सोम एक प्रकार की वल्ली है।

---

* इस विषय में हमारे मित्र पं० गिरधर जी शर्म्मा झालरा

इसका रङ्ग काला होता है—इससे दूध निकलता है। लता में पत्तियां नहीं होती। चखने में वह कडुई मालूम होती है। उसकी त्वचा मांसल होती है। उसे खाने से कै होने लगती है। उससे श्लेष्मा भी हो जाता है। उसे बकरियां खाती हैं। इस वर्णन के अनुसार सोम का कडुवा होना सुश्रुत के वर्णन से मिलता है। क्योंकि जीभ में छू गये बिना ही

पाटन से लिखते हैं "श्रुत स्वामी के बताये हुए सब लक्षण गिलवे मे मिलते हैं। सिर्फ इसे छोड़ कर कि पत्ते नहीं होते। आयुर्वेद में सोमवल्ली कहने से उनका भी बोध होता है। इसमें दूध निकलता है और बड़ा गुण करता है। पित्त को दूर करता है। त्रिदोषघ्न है। दूध के साथ और विशेष कर बकरियों के दूध के साथ हितकारी है। सम्भव है प्राचीन आर्य उसका उपयोग सोमलता के नाम से करते रहे हों। उसका एक नाम अमृता भी है। यह भी उसके अमृत तुल्य गुण का साक्षी है। यह प्रायः नहीं सूखती। सूखी हुई भी फिर हरी हो सकती है। उसके कितने ही टुकड़े कर दिये जांय, सब टुकड़े फिर जिन्दा हो कर लग जाते हैं। अर्थात् एक एक टुकड़े की एक एक बेल हो सकती है। यह झालरा पाटन में मौजूद है और भी कई एक जगह है। अमृत वल्ली भी कहते हैं। उसका सूखा टुकड़ा पानी में भिगो कर निचोड़ा जा सकता है। वह रस भी काम में आता है।"

सम्पादक—

सोम-रस पीने का सुश्रुत ने विधान लिखा है। इसका कारण कड़ुवापन के सिवा और क्या हो सकता है? रसना में लगने से अति-कटुता के कारण सोमरस पिया न जायगा, इस लिए सुश्रुत ने एक सांस में पाव भर रस गले से नीचे उतारने की विधि लिखी है। कै होना भी सुश्रुत के दिये हुए लक्षण से मिलता है, और लता से दूध निकलना भी। परन्तु बिना पत्ती के लता का होना जो लिखा है सो सुश्रुत के लक्षण से नहीं मिलता। सूखने से यदि पत्तियों का गिर जाना माना जाय तो सूखी लता से दूध नहीं निकल सकता। सम्भव है कोई सोमलता बे पत्ते की भी रही हो।

प्राचीन समय में सोम-रस का बहुत प्राचुर्य्य था। पुरातन आर्य्य उसे बहुत पीते थे। उससे दूध की तरह का रस निकलता था। वह कुछ समय तक रक्खा जाता था, बाद में दूध और शहद मिला कर पिया जाता था। उसके पीने से कुछ थोड़ा सा नशा होता था, बहुत नहीं। उसमें विशेष मादकता उत्पन्न करने की युक्तियां पीछे से निकाली गई थीं। धीरे धीरे सोम-पान का चसका आर्य्यों को लग गया और सोमलता का बहुत खर्च होने लगा। पीने और हवन करने में बे तरह खर्च होते होते वह अप्राप्त हो गई तब उसकी जगह अन्यान्य औषधियाँ पूतिका आदिक-काम में आने लगी। यही हाल और भी कितने ही औषधियों का हुआ है। आयुर्वेदिक चिकित्सा-शास्त्र में कितनी औषधियां ऐसी हैं जो खर्च होते होते बिल्कुल ही नष्ट हो गईं

है। अब इनकी जगह और और औषधि काम में लाये जाते हैं।

झांसी के पास एक जगह बरुवासागर है। वहां एक झील है। उसके किनारे ब्राह्मी नाम की एक औषधि होती है। पर वह लता नहीं, एक छोटा सा पौधा है। एक दफे एक वैद्य महाशय उसे वहां से लाये थे। ब्राह्मी भी सोमलता ही का एक पर्यायवाची नाम है। वे कहते थे कि यही सोमलता है और उस के रसायन की विधि भी आप बतलाते थे। पर वह विधि विलक्षण थी। वे कहते थे कि गले तक जल के भीतर बैठकर उसे पीना चाहिए। उसके साथ और भी कितने ही झंझट आप बतलाते थे। पर हमारी समझ में वह सोमलता नहीं। उसके एक भी लक्षण सुश्रुत और धूर्तस्वामी के उद्धृत लक्षणों से नहीं मिलते।

कुछ समय हुआ इटावा-निवासी भीमसेन शर्मा ने एक यज्ञ किया था। उसके लिए उन्होंने रीवां (बुंदेलखण्ड) के पहाड़ों से सोमलता के नाम से एक वल्ली मंगाई थी। उसके विषय में पण्डित जी लिखते हैं—"वास्तव में सोमलता नहीं मिलती, ऐसा हमारा अनुमान है। परन्तु सोमयागों में काशी के पंडित लोग जिसको सोम मानते हैं और काम में लाते हैं रीवाँ के राज्य में है।"

मानना और बात है, प्राचीन ग्रन्थों में दिए गये लक्षणों से मिलती हुई सोमलता ढूंढ़ लाना और बात है। यों तो शायद किसी दिन कोई भृङ्गराज को सोमलता मानने लगे कुश और

कास तक जब ब्राह्मणों, पितरों और देवताओं की जगह पर लिये जाते हैं तब सोम की जगह पर कुछ रख लेना कौन बड़ी बात है।

आर्यों और पारसियों के पूर्वज किसी समय में एक ही थे। दोनों सोमरस पीते थे। इसी से सोम का नाम प्राचीन से भी प्राचीन माने गये वैदिक मन्त्रों में पाया जाता है। इधर पारसियों के प्राचीन-ग्रन्थ "अवस्ता में भी सोम का नाम विद्यमान है। पर वहां सोम का होम हो गया है। इस होम का व्योहार भारतवर्ष के पारसी अब तक करते हैं। वे उसे बहुत पवित्र मानते हैं। यह सोम सूखी दशा में फारस से आता है। उसे देखकर लोगों का ख्याल हुआ था कि शायद यही आर्यों का सोम है। पर योरप के वनस्पति शास्त्र-वेत्ताओं ने जो उसकी खोज की तो पारसियों की होम एक और ही लता निकली। बलोचिस्तान के उत्तरी भाग से लेकर पारस तक यह बल्ली अधिकता से पैदा होती है। और हुम, हुमा यहमा आदि नामों से प्रसिद्ध है। वही इस देश को पारसियों के लिए भेजी जाती है।

सुश्रुत में जहां जहां सोम की उत्पत्ति लिखी है वहां, वहां बहुत ढूढ़ने पर भी उसका पता नहीं चलता है। अतएव यह निश्चय समझिये कि आर्यों का सोम भारत से हमेशा के लिये तिरोहित हो गया। परन्तु जलन्धर छावनी के लाला देवीदयालु साहब की राय में सोमलता नष्ट नहीं हुई। वह अब तक अधिकता से पाई जाती है। आप अपनी " फूला " नाम की

दू-किताब में एक जगह लिखते हैं "बावरजा उसकी काश्त
ों जानिब खास तवज्जुह होनां चाहिये"। कृपा कर के आप
अपने फूल-बाग में थोड़ी सी सोमलता लाकर लगावें तो
उसकी खेती करने वालों को उसका रूप-रंग आदि देखने और
उसका बीज या कलम प्राप्त करने में सुभीता है।।

डाक्टर राक्सवर्ग, एम० डी०, ने "फ्लोरा इंडिया" नामकी
एक किताब बनाई है। उसमें सोमलता का कुछ हाल है उसीके
आधार पर पूर्वोक्त लालासाहेब सोमकी खेती करनेकी सिफारिश
करते हैं। डाक्टर साहबके कथन का मतलब लाला साहबने अपनी
किताबमें इस प्रकार लिखा है—

"सोमलता के फूल छोटे छोटे बहुत सफेद और निहायत
खुशबूदार होते हैं। इस बेल में से इन्तहा दरजे का साफ साफ
और दूधके मानिन्द अर्क बरामद होता है। इससे उन्दा अर्क मैंने
कभी नहीं देखा। इसका जायका किसी क़दर तुर्शी मायल होता है
हिन्दुस्तान के मुसाफिर अक्सर इसी की नर्म शाखें रफातिश्नगी
की गरज से चूस जाते हैं। यह बेल जङ्गलों मे पाई जाती है। नीज
इलाका बङ्गाल की झाडियों में भी पैदा होती है। लाबजा इसकी
काश्तकी जानिब खास तवज्जुह होनी चाहिए।"

डाक्टर साहबने यह सब तो लिखा, पर सोमके प्राचीन वर्णन
और गुणों को अपनी सोमलता से मिलाकर दोनोंकी एक्यवाक्यता
करनेका कष्ट नहीं उठाया। इसका प्रमाण है कि डाक्टर साहब की

सोमलता वैदिक सोमलता है ! सम्भव है, आपकी लता मामूली गिलाये या उसी जातिकी कोई लता हो ।

पुरातत्वज्ञ विद्वानों का मत है कि शुरू शुरूमें आप लोग हर सोमलता को कूटकर रस निचोड़ लेतेथे । या यदि हरी लता न मिलती थी तो पर्वतीय आदिमियों से सूखी लता लेकर उसे पानी मे भिगो देते थे । फिर उसे मलकर छान लेते थे । बाद में दूध और शहद मिलाकर उसे कुछ काल रक्खा रहने देते थे । इससे वह रस कुछ नशीला हो जाता था । उसेही वे पीते थे । उसके पीनेसे नशा होता था । इससे वे इस लताको एक अद्भुत गुणवाली समझते थे । और उसे भक्तिभाव पूर्ण दृष्टि से देखते थे । उस समय घर घर याग होता था-घर घर अग्नि-देवका पूजा होती थी । अग्नि एक विलक्षण प्रभाव-पूर्ण देवता मानी जाती थी ।

उससे सोमरस अग्नि में भी चढ़ाया जाता था । इसी कारण धीरे धीरे सोम का प्रभाव बढ़ गया । कुछ समय बाद इतने नशे से आर्यों को सन्तोष न होने लगा । तब उन्होंने सोम-रस में अन्यान्य पदार्थ मिलाकर उसमें अधिक मादकता पैदा की और उससे सोमसुरा तैयार होने लगा । इसी तरह सोम का घर घर खर्च होने, और उसकी रक्षा का कोई प्रबन्ध न किया जाने) से उसका सर्वथा नाश होगया ।

परन्तु सुश्रुतके अनुसार सोमरस पान करने से अलौकिक शक्ति, रूप, आयु आदिकी प्राप्तकी बात आज कलके विद्वानों बनस्पति-विद्याके पंडितों और पुरातत्व प्रेमियों की समझ में नहीं

आती। सूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में भी सोमलता दुष्प्राप्य हो गई थी। इस कारण सोम के स्थान में और चीजों के प्रयाग इन ग्रन्थों में लिखे हैं। यदि सुश्रुत जी का ग्रन्थ सूत्र-ग्रन्थों के बाद माना जाय—और माना ही जाता है- तो उनके समय में भी सोमलता अप्राप्य नहीं तो दुष्प्राप्य जरूर रही होगी। अधर्मियों को सोमलता न दिखाई देने की जो बात सुश्रुत जीने लिखा है, उससे भी यही सूचित होता है। अतएव सम्भव है, सुश्रुत जीने जो कायाकल्प की विधि लिखी है वह किसी बहुत पुराने ग्रन्थ के आधार पर लिखी हो और वह ग्रन्थ उस समय का हो तब अपने विलक्षण मादक वा गुण के कारण सोमलता एक अलौकिक चीज मानी जाती थी। क्योंकि सज्ञानता की प्रथमावस्था में छोटी छोटी बातें भी आश्चर्य-जनक मालूम होती हैं। घड़ी को आपही आप खटपट करते देख अथवा ग्रामोफोनके गाने सुन छोटे छोटे बच्चो को थोड़ा आश्चर्य नहीं होता।

सोमयाग



वैदिक समय में दो प्रकार के यज्ञ होते थे। एक तो दही, दूध, घी और पुरोडाश आदि की आहुतियों के द्वारा और दूसरा सोमरस की आहुतियों के द्वारा। प्रथम प्रकार के यज्ञ का नाम हविर्यज्ञ है और दूसरे प्रकार के यज्ञ का नाम सोमयज्ञ या सोमयाग।

हविर्यज्ञ के बाद सोमयज्ञ चला। इसका प्रमाण अथर्ववेद में हैं। अथर्ववेद के गोपथ-ब्राह्मण में लिखा है कि भृगु और अङ्गिरा ऋषियों ने पहले पहल सोमयज्ञ किया।

हविर्यज्ञ अनेक प्रकार का है और सोमयज्ञ भी अनेक प्रकार का है। कृष्ण-यजुर्वेद के प्रथम काण्ड में यज्ञों के नाम हैं। उसी में उन सब की विधि भी है। किन्तु ब्राह्मण-भाग में जो विधि है वह कुछ अस्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि यजुर्वेद के प्रचार के समय ही सब यज्ञ जारी हुए। ऋग्वेद के समय उनका अंकुर मात्र था।

कृष्ण-यजुर्वेद के काण्ड १ प्रपाठक ६ अनुवाक ९ में यज्ञों के नाम आदि हैं। यथा—

"प्रजापतिर्यज्ञानसृजत। अग्निहोत्रं चाग्निष्टोमञ्च पौर्णमासीञ्चोक्थ्यञ्चामावास्याञ्चातिरात्र" इत्यादि।

हविर्यज्ञ मुख्य करके ७ प्रकार का है। यथाः—अग्न्याधेय,

अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, आग्रहायणी, चतुर्मास, पशुबन्ध और सौत्रामणि।

सोमयज्ञ भी प्रधानतः ७ प्रकार का है। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। राजसूय और अश्वमेध भी सोमयाग में ही गिने जाते हैं। परन्तु इन्हें ब्राह्मण लोग न करते थे।

सोमयज्ञ के अन्तर्गत भी कई प्रकारके याग हैं। वे चाहे जितने प्रकार के हों, सब की उत्पत्ति अग्निष्टोम ही से है। इसी लिये विशेष विशेष प्रकार का अग्निष्टोमयज्ञ विशेष विशेष नाम से पुकारा जाता था। सोमरस से सावित होने के कारण सोमयज्ञ कहते थे।

सोमयाग के भी तीन प्रकार हैं-"अहीन" "सत्र" और "एकाह"। जो एक दिन मे पूरा होता है वह एकाह" है। २ से १२ दिन तक होने वाले का नाम "अहीन" है। १ पक्ष या और अधिक दिन तक! सत्र के भी "दीर्घसात्र" इत्यादि कई भेद है।

अग्निष्टोमयज्ञ करने का समय इस प्रकार कहा गया है। यथा—"वसन्तोऽग्निष्टोमः" (कात्यायन-सूत्र) "वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजेत" (आपस्तम्बसूत्र) अतएव वसन्तकाल ही सोमयाग करने का समय है। वसन्तकाल मे ही सोम बहुतायत से पाया जाता था। इस लिए उसी ऋतु में ऋषि सोमयाग करते थे।

सोमयाग का देवता अग्नि है। इसी लिए उसका नाम अग्निष्टोम पड़ा (अग्नि स्तोमः स्तवन इत्याग्निष्टोमः) अग्नि का स्तोत्र गाना और उसकी पूजा करना ही उसका प्रधान उद्देश्य था। उसके साथ साथ और देवताओं की भी पूजा की जाती थी।

इस यज्ञ को करने के लिए सुपटु ब्राह्मण ही नियुक्त होते थे। पहले कोई अच्छी भूमि ढूंढ़ कर वहीं यज्ञ होता था। सब कहीं न होता था। पीछे, धीरे धीरे वह विधि प्रचलित हुई कि जहां वेदज्ञ ब्राह्मण पाये जांय वही स्थान यज्ञ के योग्य है।

स्थान का निश्चय हो जाने पर वहां एक मण्डप बनाया जाता था। यह चारो ओर समान होता था। और हर तरफ़ १२ अरत्नि होता था। (कुहनी से कनिष्ठा अंगुली की जड़ तक का नाम अरत्नि है) इस मण्डप को प्राचीनवंश कहते थे। इसके चार द्वार होते थे। इस लिए उसको चतुर्द्वार मण्डप भी कहते थे। यह चारो ओर तृण से छा दिया जाता था।

प्राचीन वंश-मण्डप बन जाने और यज्ञ सम्बधी सब सामग्री एकत्र हो जाने पर ऋत्विक् अर्थात् पुरोहित, यजमान को उस गृह में ले जाकर उसे दीक्षा देते थे।

सब यज्ञों में ऋत्विक् लोगों की संख्या एक सी न होती थी अग्न्याध्यान-याग में ४ अग्निहोत्र में १ दर्श-पौर्णमास में ४, चतुर्मास में ५, पशुबन्ध में और सोमयाग में१६ ऋत्विक् दरकार होते थे।

इन १६ ऋत्विकों के भिन्न २ नाम और काल थे। नाम,

यथा ब्रह्मा, उद्गाता, अध्वर्यु, होता, ब्राह्मणशंसी, प्रस्तोता, मैत्रा-वरुण, प्रतिप्रस्थाता, पोता, प्रतिहर्ता, अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र, सुब्रह्मण्य, ग्रावस्तुत और उन्नेता।

आपस्तम्ब कहते हैं कि एक सदस्य भी होता है। इस प्रकार सोमयाग को १७ पुरोहित हुए। इनमें ४ प्रधान और शेष इन चारों के सहायक होते थे। होता उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा—ये चार प्रधान होते थे।

अध्वर्यु के सहकारी प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता थे। होता के सहकारी प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य थे।

देवताके स्तुति और आह्वान करना होता का कार्य था। देवता के सन्तोषार्थ साम-गान करना उद्गाता का कार्य्य था। कार्य्य विशेष में अनुमति देना और सबके कामों को संभाल रखना तथा जप करना ब्रह्माका कार्य्य था। यजमान इन सब ऋत्विकों का वारण रखता था। ये लोग यजमान का हाथ पकड़ कर उसे यज्ञ-मण्डलमें ले जाते और दीक्षित करते थे।

दीक्षा लेते समय यजमान पहले हजामत कराता था। पीछे स्नान करके और नये कपड़े पहन कर माङ्गल्य द्रव्य धारण करता था। ऋत्विक दर्भाञ्जली अर्थात् कुश-गुच्छ लेकर यजमान के सर्वाङ्ग पर जल छींटते हुए, वेद मन्त्र पढते हुए, उसे यज्ञमण्डल के पूर्वद्वार से उसके भीतर ले जाते थे। भीतर जाते ही उसे यज्ञ की दीक्षा देते थे। दीक्षा देने से मतलब एक छोटा सा होम कराने

से था। वह होम आरम्भ-सूचक था। उसका नाम दीक्षणीय इष्टि था।

इस प्रकार दीक्षा का फल पूरा हो जाने पर पहले अध्वर्य्यु ऊंचे स्वर से देवताओं और मनुष्यों को सुनाते थे कि "अदीक्षिऽष्टयं ब्राह्मण:" अर्थात् इस ब्राह्मण ने दीक्षा ग्रहण की। यजमान क्षत्रिय और वैश्य हो तो भी वह ब्राह्मण ही कहा जाता था। फिर दीक्षित यजमान प्रायणेष्टी नामक एक छोटा सा याग करता था। इस याग में चरुपाक करके उससे अदिति, और घी से अग्नि, सोम, सूर्य्यदेवता का होम किया जाता था। यह हो जाने पर वास्तव में यज्ञ का आरम्भ होता था। तब प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विक "उपरव" प्रदेश में (उपरव किसे कहते हैं, यह पीछे कहा जायगा) कुश बिछाकर उनके ऊपर सोमलता का गट्ठा रखते थे। फिर सोम विक्रेता सोम के रेशों की परीक्षा करता और साफ करता था। पीछे १७ ऋत्विकों सहित यजमान वहां आकर उसे मोल लेता था। लाल रंग की एक वर्ष की एक गाय देकर सोम मोल लेना पडता था। ऐसी गाय लाकर अध्वर्य्यु सोम-विक्रेता से पहले मोल-तोल करता था। मोल तोल की बातें आश्चर्यजनक हैं यथा—

अध्वर्य्यु—"आर्य भो विक्रेतव्यस्ते सोमो राजा!" सोम को क्या तुम बेचोगे?

सोमविक्रेता—"अस्ति विक्रेतव्य:" हां बेचने के लिये है।

अध्वर्यु—'गोः कलया मूल्येन क्रीणीम': इस गांव के सोलह अंशों में से एक अंश मूल देकर हम मोल लेंगे।

सोम०—"इतोऽतिभूयः सोमो राजाऽर्हति" राजा सोम उससे अधिक मूल्य पाने के योग्य है।

अध्वर्यु—"सत्यं गोरपि विशिष्टो महिमा। पयः क्षीरसार दध्यामिक्षानवनीतमुदश्वितं घृतम्—इत्येवमादीनि संसारो पयोगि-वस्तु जातानि गोभ्यः समुद्भवन्ति" सत्य है कि सोम अधिक मूल्यवान है, किन्तु गाय की भी विशेष महिमा है। दूध, मलाई, दही, मक्खन, तक्र घी इत्यादि अनेक प्रकार की वस्तुयें गाय से मिलती हैं। सोम-विक्रेता—"अस्त्येतत् तथापि गोः षोड़शांशा-दधिकं सोमो राजाऽर्हति"—यह सत्य है, तथापि राजा सोम गाय के सोलहवें अंश से अधिक मूल्य पाने के योग्य है।

अध्वर्यु पहले चार भागों में एक भाग मूल्य देकर लेना चाहते हैं। फिर तीन में से एक। फिर अर्धांश। फिर समूची गाय देना स्वीकार करते हैं। तब सोम विक्रेता कहता है "विक्रीतो मया सोमः" परन्तु वस्त्रादिकं परितोषकमप्यहं लब्धुमिच्छामि—" मैं सोम बेचता हूं, परन्तु वस्त्रादि पारितोषिक चाहता हूं। तब विक्रेता को पारितोषिक दिया जाता और राज सोमशकट पर लादे जाते। फिर उस प्राचीनवंश नामक यागा गृह में पूर्व द्वार से लेकर 'आहवनीय' नामक अग्निकुण्ड के दक्षिण ओर; एक लकड़ी के पीढ़े पर मृगचर्म बिछाकर उस पर

वे रक्खे जाते। इस समय आतिथ्योष्टि नामक एक छोटा सा याग किया जाता। अर्थात् राजा सोम मानों गृह में अतिथि हुए हैं। अतएव यथोचित अतिथि-सत्कार करना उचित है। इसी भाव से वह शष्टि अर्थात पूजा की जाती और वह ठीक अलौकिक रीति से सम्पादित होती।

फिर सोमयाग के विघ्नकारी असुरों के पराभव कामना से यजमान तीन दिन तक "उपसद्" नामक एक छोटा सा यज्ञ करता। उसमें सवेरे और सन्ध्या-समय सोम और विष्णु देवता के नाम पर घी की आहुतियों से होम किया जाता।

तीन दिन होने वाले उपसद् नामक के बीच वाले दिन सौमिक वेदी बनाई जाती थी। उसके ऊपरका भाग, चारो ओर, बितान से ढक दिया जाता था। इसके सम्मुख भाग का नाम अंश और पश्चाद् भाग का नाम श्रेणी होता था। इस वेदी के अंश के उत्तर भाग में १० डग के नाम की एक वेदी बनाई जाती थी। वह अग्निहोत्र-वेदी के सदृश होती थी? इसका नाम "उत्तरवेदी" होता था। उस वेदी के अंश के उत्तर भाग में पूर्व पश्चिम, एक डग की और वेदी बनाई जाती थी। इसका भी आकार अग्निहोत्र-वेदी के सदृश ही होता था। फिर महादेव के मध्य भाग में श्रेणी-रेखा खींची जाती थी। मध्य से अंश तक उस सुव्यक्त रेखा का नाम "पृष्ठ्या" होता था। महावेदी के उत्तरांश के पश्चात भाग में, तीन डग की दूरी पर एक गढ़ा खोदा जाता था। इसको वैदिक लोग चत्वालक कहते थे। इसे

चत्वालक गढ़े से १२ हाथ की दूरी पर एक और गढ़ा खोदा जाता था। उसका नाम "उत्कर" होता था।

यह सब बना लेने पर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता हविर्धान नामक दो छकड़े उस गढ़े में धोकर और पश्चिम ओर से महा-वेदी पर लाकर, श्रोणी के निकट रखते थे। फिर उस पृष्ट्या नामक रेखा के दक्षिणोत्तर चार खम्भे वाला एक मण्डप बनाते थे। उस मण्डप का नाम हविर्धान-मण्डप था। उसके पूर्व और पश्चिम में दो द्वार होते थे। वीरण अर्थात् शरपत्र (सरपत) की चटाई से उसे चारो ओर से ढँक देते थे।

इसके अनन्तर मण्डप के मध्य में एक ही से चार कमरे बना कर अग्निकोण वाले कमरे के बीच में एक हाथ वर्गाकार रेखा की कल्पना करके प्रत्येक कोने के किनारे आध हाथ लम्बा और एक हाथ गहरा एक गढ़ा खोदते थे। अर्थात् चारो कोनों पर चार गढ़े खोदते थे। गढ़ों के मुंह वरुणाकाष्ट की चार कंडियों से बन्द कर के उन पर वृष-चर्म और उनके ऊपर शिला-पट्ट (पत्थर की पटिया) रखते थे। उसी पर रस निकालने के लिए सोम पीसा जाता था।

हविर्धान मण्डप के सम्मुख पृष्ट्या नामक स्थान के दक्षिण में सदोमण्डप नाम का एक और मण्डप बनाया जाता था। यह मण्डप १० अरत्नि लम्बा और ६ अरत्नि चौड़ा, स्तम्भों से सुशोभित था साफ सुथरा होता था। सदो-मण्डप के बीच बीच में यजमान के आकार का एक औदुम्बरी स्थूणा (खूंटा) गाड़ा

जाता था। फिर अग्निशालाका निर्म्माण सदोमण्डप और हविर्धान मण्डप के उत्तर भाग में होता था। उनका एक अर्धांश वेदी की ओर घुसा हुआ और दूसरा बाहर को निकला हुआ रहता था। इसमें दो द्वार होते थे। एक दक्षिण की ओर, दूसरा पूर्व के ओर।

आहवनीय-कुण्ड के निकट ही यज्ञीय यूप-स्तम्भ गाड़ा जाता था।

महादेवी वन जाने पर, वैसर्जन नामक होम के बाद अग्नि-ष्टोमी पशुयाग का प्रारम्भ होता था। यह याग सोमयाग का पूर्वाङ्ग है। उस समय वंश-शाला में उत्तर-वेदी पर रक्खी हुई सोमलता को लाकर हविर्धान-मण्डप में रखते थे। फिर यज्ञीय पशु को पवित्र जल से स्नान करा कर, यूप के सामने, पश्चिम मुंह खड़ा कर के कुशाञ्जलीयुक्त प्लक्ष शाखा से उसे मन्त्रपूत करते थे। मन्त्रपूत अर्थात् उपाकरण हो जाने पर संज्ञपन वध करने तक जो क्रियाएं की जाती थीं उनका नाम पश्वा-लम्भन था।

दाँता हुआ, सर्वाङ्ग पूर्ण, रोगशून्य और बहुत हृष्ट-पुष्ट बकरा ही यज्ञकार्य्य में ग्रहण किया जाता था।

पशु जब वध्यस्थानमें लाया जाता था। तब ऋत्विक्लोग ऊंचे स्वर से वेद-मन्त्र गान करते थे। जो मन्त्र गाये जाते थे उन में से एक का अर्थ यों है। '-हे व्यापक इन्द्रिसमूह! इस पशु की इन्द्रियाधिष्ठात्रीदेवी सहित तुम हमें हवि अर्थात् होम-द्रव्य दो।"

संज्ञयन हो जाने पर पशु के नीचे लिखे अंग काट २ कर "शामित्र" नामक अग्निकुण्ड में भूने जाते थे । फिर मन्त्र गाते गाते उसकी आहुति दी जाती थी। वो अंग ये हैं—कलेजा, जीभ, वक्ष, तिल्ली, वृक्कद्वय, अगला बायां पैर, दोनों रानें, दाहिनी श्रेणी, वायुनाल, और चर्बी आदि। और कई अंग काटकर उनसे होम किया जाता था। इन सब विषाओं का नाम था "अग्निष्टोमीय पशुयाग"।

इसके बाद ही पुरोहित ब्राह्मण चात्वाल और उत्कट भूमि के उत्तर भाग में बहते हुए जलाशय से जल लाकर यज्ञशाला में रखते थे। उस लाये हुए जल का वैदिक नाम वसतीवरी था। उस दिन रात भर जाग कर यजमान ब्राह्मणों से नाना प्रकार के इतिहास और वैदिक बातें सुनता था। इसी कारण इस दिन का नाम उपवस्थ था।

उसके बाद के दिन का नाम सूत्या दिवस था। उस दिन सवेरे अध्वर्यु आदि ब्राह्मण स्नान और आह्निक कर्म करके जो जो कार्य्य करने की विधि होती थी उसमें लग जाते थे। यथा—

पहिले हविर्धान के छकड़े से सोम उतार कर उसे वे उपसव स्थान में रखते थे। अध्वर्यु बहुत सवेरे उठ कर होता के "प्रेम मन्त्र" से आवाहन करते थे। होता भी प्रातरनुवाक पढ़ कर अश्विनी-कुमार का स्तवन करते तथा आग्नीध्र-पुरोडाश आदि प्रस्तुत करने लगते थे और उन्नेता सोमपात्र सजाते थे *।

---

* सोमपात्र दो प्रकार का होता है—ग्रह और स्थाली। ग्रह

फिर हविर्धान की गाड़ी के अक्ष-प्रान्त में दो ऊर्णवस्त्र, अर्थात् भेड़ के रोयें के बने कम्बल, सोमरस छानने के लिए रक्खे जाते थे। तदनन्तर दक्षिणी हविर्धानके छकड़े के नीचे मिट्टी का एक द्रोणाकलश रक्खा जाता था और उत्तरी हविर्धान के छकड़े के ऊपर दूसरे दो बड़े बड़े कलश। उन में से एक का नाम उपभृत और दूसरे का नाम आधवनीय था। पश्चात उत्तर वाले छकड़े के नीचे १० काष्ठमय चमस और मिट्टी के ५ घड़े रक्खे जाते थे। यह सब कार्य्य उन्नेता करता था।

इसके अनन्तर अध्वर्य्यु की आज्ञासे यजमान, उसकी पत्नी और चमसाध्वर्य्यु ऊपर लिखे घड़ों में जल लाते थे। जो जल पुरुष लाते उसका नाम एकधन और जो यजमान पत्नी लाती उसका नाम पान्नेजन था। अध्वर्य्यु इन दोनों प्रकार के जलों को पूर्वोक्त वसतीवरी जल में मिला देते थे।

फिर यजमान, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और अध्वर्य्यु उस सोम-वाली सिल के पास बैठ कर और लोढा हाथ में लेकर, अनुज्ञा-वाक्य उच्चारण करते थे। अनन्तर अध्वर्य्यु पाँच मुट्ठी सोम सिल पर रखते थे। प्रतिप्रस्थाता उस सोमके ढेर में से दो सोम-अंशु लेकर अपनी उँगलियों के बीच में दबा रखते थे। फिर सब इकट्ठे होकर उसे पीसते थे। इस प्रकार का सोमरस निकालने

लकड़ी का और स्थाली मिट्टी का बनता था। ये दोनों वर्तन भिन्न २ आकार के बनाये जाते थे।

का नाम सोमभिषव था। यह दिन मे केवल तीन वार किया जाता था। सवेरे का सोम भिषव का नाम प्रातः-सेवन, मध्य वाले का माध्याह्न-सेवन और सायङ्काल वाले का सायंसेवन था। निकाले गये सोमरस की आहुतियाँ दी जाती थीं। शेष भाग पीने के लिए रखा जाता था। आहुति-योग्य सोमाभिषव समाप्त होने पर पुरोहित लोग महाभिषव अर्थात् बहुतायत से सोम पीसना आरम्भ करते। प्रतिप्रस्थावा आदि सब लोग एकत्र होकर पीसते और अध्वार्य्यु उसमें जल देते जाते। अच्छी तरह पिस जाने पर उसे आधवनीय कलशमें डाल कर हिलाते रहते। फिर उसे कपड़े से दबा कर रस निकालते। उस रस को क्रम से ग्रह, चमस और कलश में भरते और अनेक प्रकार के मन्त्र और स्तोत्र पढ़ते। उससे देवताओं के नाम पर आहुतियाँ दी जातीं।

सोमयाग के देवता-सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वायु, मित्र, वरुण, अश्विनीकुमारी, विश्वदेव, इन्द्र, महेन्द्र, वैश्वानराग्नि, चैत्रादि मासो की अधिष्टात्री देवता, इन्द्राग्नि मरुद्गण सहित इन्द्र, त्वष्ट्र-सहित अग्नि-पत्नी स्वाहा हैं।

इस अनुमान के बाद पुरोहित और यजमान सोमरस पी कर आत्मा को कृत्यकृत्य समझते थे। पुरोहित और यजमान के सोमपान के विधान में भेद है। पुरोहित प्रत्येक सवन में बचा हुआ सवन पीता और यजमान केवल सायंसवन में पीता था। याग समाप्त होने पर यजमान पहले कहे हुए

-सदोमण्डल में जाकर पुरोहितों को दक्षिणा देता था । अग्नि ष्टोमोयज्ञ के दक्षिण विभाग में क्रम से १२०० गायें ※ और सोना वस्त्र, अश्व, अश्वतर, भेड़, बकरा, अन्न, और उड़द देने की विधि थी ।

जिन पुरोहित को जिस प्रकार दक्षिणा देने की विधि थी वह नीचे लिखी जाती हैं:—

ब्रह्मा को १२ गायें और कुछ सोना इत्यादि ।
उद्‌गाता को ,, ,,
होता को ,, ,,
अध्वर्यु को ,, ,,
ब्राह्मणशंसी को ९ गायें और कुछ सोना इत्यादि
प्रस्तोता को ,, ,,
प्रतिप्रस्थाता को। ,, ,,
पोता को ६ गायें और कुछ सोना इत्यादि
प्रतिहर्त्ता को ,, ,,
अच्छावक को ,, ,,
अग्नीध को ३ गायें और कुछ सोना इत्यादि
सुब्रह्मण्य को ,, ,,
ग्रावस्तुत ,, ,,
उन्नेता ,, ,,

※ न हो तो १०० गायें । वे भी न हों तो मूल्य देने की विधि भी है ।

शेष गायें आदि दूसरे सहकारी ब्राह्मणों को, अर्थात् चमसाध्वर्यु आदि को, यथाशास्त्र विभाग करके दी जाती थीं।

इस समय दूसरे याचक अर्थात् विना बुलाये आये हुए ब्राह्मण, अन्धे, लँगड़े, अनाथ, दीन आदि को अन्न, वस्त्र, सोना इत्यादि यथा-शक्ति बांटे जाते थे।

यज्ञ-समाप्ति के बाद एक और कार्य्य करना पड़ता था। उसका नाम अवभृथ स्नान था। वह स्नान बड़े समारोह से होता था। पुरोहित, बन्धु व बान्धव सुहृद और उनकी स्त्रियाँ सब एकत्र होकर यजमान सहित स्नान करने के लिये किसी बड़ी नदी, नदी न हो तो किसी पवित्र जलाशय, को जाते थे। जाते समय प्रस्तोता नामक पुरोहित आगे आगे साम-गान करते चलते और यजमान आदि पुरुष तथा उनकी स्त्रियाँ पीछे पीछे गाती हुई जाती थीं। जलके पास पहुँचने पर पहले एक होम किया जाता था पीछे जलक्रीड़ा होती थी। यह अवभृथ स्नान बड़े बड़े यज्ञों का अङ्ग था। इस स्नानसे शायद ब्रह्महत्यादि सब पाप दूर हो जाते थे *

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्रकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा॥
अ० ७०, श्लो० १९५-१९६

---

* इस विषय पर बा० रामदास सेन का लिखा हुआ एक लेख बङ्गला में है। उसका अनुवाद तत्त्वी-समाचार में निकला था। इसी का यह यत्र तत्र परिवर्तित और परिष्कृत रूप है।

सम्पादक—

ठीक यही बात शुक्राचार्य ने भी कही है। उनके मतसे शत्रु की सेनाके लिए जल, भोजन आदिका पहुँचाना भी रोक देना नीतिके विरुद्ध नहीं। शुक्राचार्य तो यहां तक कहते हैं कि जो बली होगा वही उद्योग के द्वारा सब कुछ कर सकेगा। निर्बल केवल अपने दुर्भाग्य के नामपर चिल्लाता रहेगा।

रामायण और महाभारत से यह सिद्ध है कि हमारे यहां धार्मिकता और अधार्मिकता का पक्ष केवल प्रस्ताव रूप में ग्रहण किया जाता था। रामायण में रामचन्द्र के द्वारा ताड़का का वध पाप है, क्योंकि वह स्त्री थी। पर विश्वामित्र ने उसके दुष्कार्यों का वर्णन करके यह साबित कर दिया कि रामचन्द्र को उसके मारने से पाप नहीं लग सकता। रामायण के उत्तर काण्डमें भी एक ऐसी घटना का वर्णन है। विष्णु और राक्षस माल्यवान् के युद्ध में जो राक्षस भाग रहे थे उन्हें भी विष्णु मार डालते थे। यह देखकर माल्यवान ने कहा कि मालूम होता है, विष्णु क्षात्र-युद्धसे परिचित नहीं। विष्णु ने उत्तर दिया कि देवताओं के साथ राक्षसों के नाश की प्रतिज्ञा कर चुकने के कारण मैं उन्हें मार रहा हूं।

महाभारत में दुर्योधन की चालबाजियों के अतिरिक्त धर्म युद्धका अच्छा चित्र खींचा गया है। इसमें यह भी दिखलाया गया है कि मानव-समाजके हार्दिक भाव कैसे होते हैं।

अन्तमें हम महाभारत के "यतो धर्मस्ततोः जयः" का फिर भी स्मरण कराकर ब्रिटिश साम्राज्यकी रक्षाके लिए धर्म युद्धमें प्रबल होनेके कारण अपने भारतीय भाइयों को बधाई देते हैं।

बौद्धकालीन भारत के विश्वविद्यालय



किसी गत सख्या में "प्राचीन भारत के विश्वविद्यालय" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हो चुका है। आज हम अपने पाठकों को बौद्धकालीन भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों का सिलसिलेवार इतिहास सुनाते हैं। श्रीयुक्त रवीन्द्रनारायण घोष, एम० ए० ने जंन् सोसाइटी की मैगज़ीन में इस विषय का लेख अंगरेज़ी में प्रकाशित किया है। उसी के आधार पर यह लेख लिखा गया है।

बौद्धकाल तीन युगों में बांटा जा सकता है। पहला युग गौतम बुद्ध के समय से शुरू होता है और पांच सौ वर्ष तक रहता है। इस युग के बौद्ध साधुचरित्र और सच्चे त्यागी होते थे। दूसरा युग ईसवी सन् के साथ प्रारम्भ होता है और ईसा की छठी शताब्दी में समाप्त हो जाता है। इस युग में बौद्धों ने पहले युगके गुण बनाये रखने के साथ साथ शिल्पकला में भी अच्छी उन्नति की थी। सातवीं शताब्दी से तीसरा युग लगता है। इसे तान्त्रिक युग भी कह सकते हैं। इसमें बौद्ध महन्तों के चरित्र बिगड़ने लगे थे और पहले की सी त्यागशीलता जाती रही थी। परन्तु उन लोगों ने आयुर्वेद और रसायन-शास्त्र में खूब उन्नति की थी।

उनमें से प्रत्येक युग के विशेषत्व की झलक उस समय के विश्व-विद्यालयों में अच्छी तरह पाई जाती है।

तक्षशिला का विश्वविद्यालय

पहले युग का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय तक्षशिला नगर में था। यह नगर वतमान रावलपिण्डी के पास था। सूक्त और विनय पीठ आदि प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों में इसका कई जगह उल्लेख पाया जाता है। प्राचीन काल में यह एक अत्यन्त विख्यात नगर था। एरियन स्ट्रबो, प्लीना आदि प्राचीन लेखकों ने इस नगर की विशालता और वैभव-समपन्नता की जी खोलकर प्रशंसा की है। अशोक के राजत्वकाल में उसका प्रतिनिधि यहां रहता था। वौद्ध-ग्रन्थों से पता लगता है कि यह अपने समय में विद्या-सम्बन्धी चर्चा और पठन-पाठन का केन्द्र था। यह विश्वविद्यालय वुद्ध के पहले ही स्थापित हो चुका था। इसमें वेद, वेदांग, उपांग आदि के सिवा आयुर्वेद, मूर्तिकारी, जित्रकारी गृहनिर्माण विद्या आदि भी पढ़ाई जाती थी।

विज्ञान, कला कौशल और दस्तकारी के सब मिलाकर कोई अठारह विषय पढ़ाये जाते थे। इनमें से प्रत्येक चीज़ के लिये अलग अलग विद्यालय बने हुए थे और भिन्न २ विपयों को भिन्न २ अध्यापक पढ़ाते थे। जगद्विख्यात संस्कृत-वैयाकरण पाणिनि और राजनीतिज्ञ शिरोमणि चाणक्य ने इसी विश्ववि-द्यालय में शिक्षा पाई थी। आत्रेय यहां वैद्यक शास्त्र के अध्या-

पक थे। मगध-नरेश बिम्बसार के दरबारी चिकित्सक और महात्मा बुद्ध के प्रिय मित्र तथा मतानुयायी वैद्यराज जीवक ने तक्षशिला ही के अध्यापकों से चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया था। विनय-पीठक में महावग्ग नामक एक मनुष्य का हाल है जिससे प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली का अच्छा पता लगता है। कई वर्ष अध्ययन करने के बाद महावग्ग ने अपने गुरु से पूछा कि शिक्षा समाप्त होने में अभी कितने दिन बाकी हैं। गुरु ने उत्तर में कहा कि तक्षशिला के चारो तरफ एक योजन भूमि में जड़ी बूटियों के सिवा जितने व्यर्थ पौधे मिलें उन सबको जमा करो। बिचारे विद्यार्थी ने नियत स्थान के प्रत्येक पौधे की परीक्षा की, परन्तु उसे कोई भी व्यर्थ पौधा न मिला। शिक्षक महाशय ने अपने परिश्रमी विद्यार्थी की खोज का हाल सुना तो बड़े प्रसन्न हुए और महावग्ग से बोले कि तुम्हारी शिक्षा समाप्त हो गई अब तुम अपने घर जावो।

तक्षशिला वैदिक-धर्मावलम्बियों की विद्या का केन्द्र स्थान था पर बौद्ध-धर्म का प्रचार होने पर वहां बौद्ध लोग भी पढ़ने पढ़ाने लगे थे। यहां से कई बौद्ध विद्यार्थी ऐसे निकले जो समय पाकर खूब विख्यात हुए। बौद्ध-धर्म के सौत्रान्तिक सम्प्रदाय स्थापक कुमारलब्ध भी इन्हीं में थे। इनके विषय में हुएनसंग लिखते हैं-"सारे भारत के लोग उनसे मिलने आते थे। वे नित्य बत्तीस हजार शब्द बोलते और बत्तीस हजार अक्षर लिखते थे। उन्होंने कई शास्त्रों की रचना की थी। उस समय पूर्व में

अश्वघोष, दक्षिण में देव, पश्चिम में नागार्जुन और उत्तर में कुमार लब्ध अत्यन्त प्रसिध्द विद्वान थे।

ये चारो पंडित संसार को प्रकाशित करने वाले चार सूर्य्य कहलाते थे।" जिस समय तक्षशिलामें वैदिक धर्मावलम्बियों की प्रवलता थी उस समय तीन बातें ऐसी थीं जिनको यहां पर लिख देना हम उचित समझते हैं। एक ता यह कि उस समय की शिक्षाप्रणाली नियमवद्ध विश्वविद्यालयों की सी न थी; किन्तु ऐसी थी जैसी कि वर्तमान कालमें बनारस की है। पर बौद्ध-विहारोंकी पढ़ाई इससे ठीक उलटी थी ; वहां की शिक्षाप्रणाली वैसा ही थी जैसे कि नियमवद्ध विश्वविद्यालयों की होनी चाहिए। दूसरी बात यह कि बौद्ध–विहारों की तरह यहां पर केवल सन्यासियों ही को शिक्षा न दी जाती थी ; किन्तु गुरु और शिष्य दोनोंही गृहस्थ होते थे। यह बात असतमन्त जातक की एक कहानी से और भी स्पष्ट हो जाती है। एक ब्राह्मण ने अपने पुत्रसे पूछा कि तुम कैसा जीवन विताना चाहते हो। यदि तुम ब्राह्मणराज्यमें प्रवेश करना चाहते हो तो वन को जाओ और वहां अग्निहोत्र करो। यदि गृहस्थ बनना चाहते हो तो तक्षशिला जाकर किसी विख्यात पंडित से विद्याध्ययन करो, जिसमें सुखपूर्वक गृहस्थ जीवन विता सको। पुत्र ने उत्तर दिया:—"मैं वानप्रस्थ बनना नहीं चाहता मेरी इच्छा गृहस्थ बनने की है"। तक्षशिलाके वैदिक विद्यालयों में ध्यान देने योग्य तीसरी बात यह थी कि उनमें केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय बालक ही भर्ती किए जाते थे।

नालन्दा का विश्वविद्यालय

बौद्धकाल के दूसरे युग में सब से बड़ा विश्वविद्यालय नालन्दा में था। यह स्थान मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह से सात मील उत्तर की ओर, और पटना से चौंतीस मील दक्षिण की ओर था। आज कल इस जगह पर बारगाँव नामक ग्राम बसा हुआ है, जो गया जिले के अन्तर्गत है। नालन्दा के प्राचीन इमारतों के खंडहर यहां अभी तक पाये जाते हैं। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसंग ने नालन्दा की शान व शौकत का बड़ा ही मनोहर वृत्तांत लिखा है। चीन ही में उसने नालन्दा का हाल सुना था; तभी से इसे देखने के लिये वह ललचा रहा था। इधर उधर घूमते घामते जब वह गया में पहुंचा तब विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उसे नालन्दा में आने के लिये निमन्त्रित किया। इससे उसने अपने को धन्य समझा। नालन्दा में पहुंचते ही उसके दिल पर ऐसा असर पड़ा कि वह तुरन्त विद्यार्थियों में शामिल हो गया।

नालन्दा की बाहरी टीमटाम।

विद्यालोलुप चीनी सन्यासी नालन्दा की भव्यता और पवित्रता देख कर लट्टू हो गया। ऊँचे २ विहार और मठ चारों ओर खड़े थे। बीच बीच में सभागृह और विद्यालय बने हुए थे। वे सब समाधियों, मन्दिरों और स्तूपों से घिरे हुए थे। उनके

चारों तरफ बौद्ध-शिक्षकों और प्रचारकों के रहने के लिए चौमंजिला इमारतें बनी हुई थीं। इनके सिवा ऊंचे २ मीनारों और विशाल भवनों की शोभा देखने के ही योग्य थी। इन भवनों में नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। रंग बिरंगे दरवाजों कड़ियों, छतों और खम्भों की सजावट को देख कर लोग लोट पोट हो जाते थे। विद्या-मन्दिरों के शिखर आकाश से बातें करते थे और हुएनसंग के कथनानुसार उनको खिड़कियों से वायु और मेघ के जन्मस्थान दिखाई देते थे। मीठे और स्वच्छ जल की धारा चारों ओर बहा करती थी और सुन्दर खिले हुए कमल उसकी शोभा बढ़ाया करते थे।

नालन्दा का आन्तरिक जीवन।

विशालता, नियमबद्धता और सुप्रबन्ध के विचार से नालन्दा का विश्वविद्यालय वर्तमान काशी की अपेक्षा आक्सफर्ड से अधिक मिलता जुलता था। विश्वविद्यालय के विहारों में कोई दस हजार भिक्षु विद्यार्थी और डेढ़ हजार अध्यापक रहते थे। केवल दर्शन और धर्मशास्त्र ही के सौ अध्यापक रहते थे। इससे सम्बन्ध रखनेवाला पुस्तकालय नौ मंजिला था। जिसकी ऊँचाई करीब तीन सौ फीट थी। इसे महाराज ने बनवाया था। इसमें बौद्ध धर्म-सम्बन्धी सभी ग्रन्थ थे। प्राचीन काल में इतना बड़ा पुस्तकालय शायद ही कहीं रहा हो।

दुनियां में आज कल जितने विश्वविद्यालय हैं सब में विद्या-

र्थियों से फ़ीस ली जाती है। पर नालन्दा का विश्वविद्यालय की दशा इससे ठीक उलटी थी। केवल यही नहीं कि विद्यार्थियों से कुछ न लिया जाता था, किन्तु उलटे उन्हें प्रत्येक आवश्यक वस्तु मुफ्त दी जाती थी—अर्थात् भोजन, वस्त्र, औषध, निवास-स्थान आदि सब कुछ सेंतमेंत मिलता था। यह प्रथा हिन्दोस्तान में बहुत प्राचीन काल से चली आई है। गृहस्थ लोग गांव, खेत, बाग़, वस्त्र अथवा नकद रुपये इन विद्यालयों को दान करते थे। इसी से उनका सम्पूर्ण खर्च चलता था। इस प्रकार विद्यार्थियों का बहुत समय और मानसिक शक्ति पेट-पूजा के लिए धनोपार्जन करने में नष्ट होने से बच जाती थी, और वे इस समय और शक्ति को विद्याध्ययन में लगाते थे। इसका फल यह होता था कि गम्भीर विचार वाले और मानशील विद्वान् इन विद्यालयों से निकलते थे। इसी से वे लोग बौद्धधर्म, संस्कृत साहित्य और संसार का अनन्त उपकार कर गये हैं।

नालन्दा के विश्वविद्यालय में आज कल की तरह परीक्षायें न होती थीं। किन्तु विद्यार्थियों की योग्यता शास्त्रार्थ द्वारा जांची जाती थी। विद्यालय में भर्ती होने के नियम भी बड़े कड़े थे। जो लोग दाखिल होने के लिये आते थे उनसे द्वारपंडित कुछ कठिन प्रश्न करता था। यदि वे उनका उत्तर दे सकते थे तो भीतर जाने पाते थे, नहीं तो लौट जाते थे। इसके बाद शास्त्रार्थ के द्वारा उनकी योग्यता की परीक्षा की जाती थी। जो इसमें भी अपनी योग्यता प्रमाणित कर सकते थे वही विद्यालय में

दाखिल हो सकते थे। बाकी अपना सा मुंह लेकर अपना रास्ता लेते थे। मतलब यह कि अच्छे बुद्धिमान, विद्वान, योग्य और गुणवान मनुष्य ही विश्वविद्यालय में प्रवेश कर सकते थे।

द्वारपंडित के पद पर वही नियत किया जाता था जो ऊँचे दर्जे का विद्वान होता था। यह पद उस समय बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता था। विश्वविद्यालय के सभागृह में सबेरे से शाम तक शास्त्रार्थ हुआ करता था। दूर २ के देशों से पंडित अपनी शङ्कायें दूर करने के लिये वहाँ आते थे। नालन्दा के विद्यार्थियों का देशभर में आदर सत्कार, सम्मान होता था। जहाँ वे लोग जाते थे वहीं उनकी इज्जत होती थी। यों तो नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रायः सभी अध्यापक उत्कृष्ट विद्वान थे, पर उनमें से नौ मुख्य थे। हुएनसंग ने उनकी सीमारहित विद्वत्ता, योग्यता, देशव्यापी ख्याति अद्‌भुत प्रतिभाशालिता की खूब प्रशंसा की है। उन नौओं अध्यापकों के नाम ये हैं—धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति प्रभामित्र, जिन, मित्र ज्ञानचन्द्र, शीघ्रबुद्ध और शीलभद्र। इनमें से शीलभद्र, हुएनसंग के समय में, विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे। बौद्धधर्म्म के महायान सम्प्रदाय के जगद्विख्यात संस्थापक नागार्जुन का सम्बन्ध भी किसी समय नालन्दा विश्वविद्यालय से था।

नालन्दा के प्रायः सभी अध्यापक और विद्यार्थी धार्मिकजीवन व्यतीत करते थे। असल में धार्मिक जीवन बिताने के लिए ही इसकी सृष्टि हुई थी; इसी लिए इसका नाम "धर्मगंज" पड़ा था। परन्तु पीछे इसकी काया पलट गई थी। दर्शन और धर्मशास्त्र के साथ

साथ व्याकरण ज्योतिष, काव्य, वैद्यक आदि व्यावहारिक और संसारिक विद्यायें भी पढ़ाई जाने लगी थीं। तमाम हिन्दुस्तान भरके विद्यार्थी इन विद्याओं के पढ़ने के लिये यहाँ आते थे।

श्रीधन्यकटक का विश्वविद्यालय।

इस युग का दूसरा प्रसिद्ध विश्वविद्यालय श्री धन्यकटक में था। यह स्थान दक्षिण भारत में कृष्ण नदी के किनारे वर्तमान अमरावती के स्तूपों के निकट था।

बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय के चौदहवें धर्मगुरु, विख्यात रसायन शास्त्रवेत्ता और चिकित्सक नागार्जुन के समय में यह खूब उन्नति दशा में था और देश देशान्तरों में प्रसिद्ध हो गया था। चीन यात्री इत्सिंग के कथनानुसार नागार्जुन महाशय ईस के चौथी शताब्दी में हुए थे।

यहां पर वैदिक और बौद्ध दोनों प्रकार के ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। तिब्बत की राजधानी लासा के निकट डायंग-विश्वविद्यालय इसी के नमूने पर बनाया गया था। पठन-पाठन विधि यहाँ भी वैसे ही था। जैसे कि नालन्दा में।

ओदन्तपुरी और विक्रमशिला के विश्वविद्यालय।

यह हम लिख चुके हैं कि बौद्ध काल का तीसरा युग सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इस समय के बौद्ध-महन्तों में पहले का सा धार्मिक उत्साह बाकी नहीं था, परन्तु वैज्ञानिक खोज करने का खूब जोश बढ़ गया था। वैद्यक और रसायनशास्त्र में उन

लोगों ने अच्छी उन्नति की थी। इस तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रचार वंगाल और विहार में वहुत था। इन दिनों मगध में पाल-वंश के राजा राज्य करते थे। उन्हीं के समय में वौद्ध उपदेशकों ने तिव्वत जाकर वौद्ध धर्म का प्रचार किया। इस युग में दो मुख विश्वविद्यालय थे, एक जो ओदन्तपुरी, दूसरा विक्रमशिला में। ये दोनों स्थान विहार प्रान्त में हैं। मगध में पालवंश का राज्य होने के वहुत दिन पहले ओदन्तपुरी में एक वड़ाभारी विहार वनाया गया था। इसी विहार के नाम पर कुल प्रान्त का नाम विहार पड़ गया और पुराना नाम मगध लुप्त हो गया। महाराज महीपाल के पुत्र महापाल के समय में ओदन्तपुरी-विश्वविद्यालय में वौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय एक हजार और महायान सम्प्रदाय के पांच हजार महन्त रहते थे। पालवंश के राजाओं ने ओदन्तपुरी-विश्वविद्यालय में एक वड़ा भारी पुस्तकालय स्थापित किया था। उसमें वैदिक और बौद्ध दोनों प्रकार के हजारों ग्रन्थ थे। सन १२०२ ईसवी में मुसलमानों ने इस पुस्तकालय को जला दिया और महन्तों का कत्लेआम करके विहार को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। श्रीधन्य कटक-विश्वविद्यालय की तरह ओदन्तपुरी के नमूने पर भी तिव्वत में शाक्य नामक एक विश्वविद्यालय खोला गया था। पाल राजा वड़ाही विद्यारसिक और विद्वानों के संरक्षक थे। उनका सम्वन्ध एक और विश्वविद्यालय से भी था। उसका नाम था विक्रमशिला। यह विद्यालय भागलपूर ज़िले के अन्तर्गत सुलतानगंज गांव के निकट गंगा के दाहिने किनारे एक

पहाड़ी की चोटी पर बना हुआ था। सब मिलाकर कोई एक सौ आठ भवन थे। इस विश्वविद्यालय के आधीन ६ महा-विद्यालय थे, जिनमें एक सौ आठ पंडित पढ़ाते थे। इन सब पंडितों तथा अन्य तिथि विद्वानों का खर्च पूर्वोक्त महाराज के दिए हुए गांवों की आमदनी से चलता था। बीच का भवन विज्ञान-मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था। इसमें विहार के महन्त उन पंडितों से बौद्ध-ग्रंथ पढ़ते थे जो विश्वविद्यालय के प्रथम और द्वितीय स्तम्भ कहलाते थे। राजा जयपाल के शासन काल में विश्वविद्यालय की देख भाल के लिए ६ द्वार पंडित नियत थे। इसी समय महात्मा जेतारि ने एक सत्र स्थापित किया था। जिसमें बिक्रमशिला के विद्यार्थियों को मुफ्त भोजन मिलता था। विद्या-लय के स्थायी विद्यार्थियों को भोजन देने के लिए चार सत्र पहले ही से थे। इनके सिवा वारेन्द्रके अधीश महाराज सनातनने दशवीं शताब्दी के आदि में एक सत्र और भी खोला था। विश्वविद्यालय के प्रवंध करने के लिए ६ विद्वानो की एक सभा थी, जिसका सभापति सदा राजपुरोहित होता था। महाराज धर्म-पाल के समय में अध्यक्ष के पद पर श्रीबुद्धज्ञानपादाचार्य्य नियुक्त थे। ग्यारहवीं शताब्दी में इस पद पर श्रीयुत दीपांकुर महाशय नियत थे। अपने समय के यह बड़े विख्यात विद्वान थे उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा सुन कर तिब्बत वालों ने उन्हे अप यहां बुलवाया था। इस विश्वविद्यालय से पढ़कर जो विद्यार्थी निकलते थे उनको पंडित की पदवी दी जाती थी। अपने समय

के सबसे बड़े नैयायिक पं० जेतारि ने इसी विश्वविद्यालयके पंडित का पदवी और राजा महापाल का हस्ताक्षरित प्रमाण-पत्र पाया था। महाराज उनकी गहरी विद्वत्ता से इतने प्रसन्न हुए थे, कि उन्होंने उनका द्वारपंडित के प्रतिष्ठित पद पर नियत किया था। सन् १८३ ईसवी में काश्मीर-निवासी रत्नवज्र नामक एक प्रसिद्ध विद्वान ने भी यहां से पंडित की पदवी और राजा चाणक्य का हस्ताक्षरित प्रमाण-पत्र पाया था। इस विश्वविद्यालय में व्याकरण अभिधर्म (बौद्ध-मनोविज्ञान) दर्शन-शास्त्र, विज्ञान, वैद्यक आदि कई विषय पढ़ाये जाते थे। तिब्बत के लामा विक्रमाशिला में आते थे। और वहां के पंडितों की सहायता से संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती भाषा में करते थे। सन् १२०३ ईसवी में बख्तियार खिलजी ने इस विहार पर आक्रमण किया और इसे लूट पाट कर नष्ट भ्रष्ट कर दिया। भारतवर्ष के अन्य बौद्ध-विहारों की भी यही दशा हुई।



बौद्धों के द्वारा अमेरिका का आविष्कार।



सारे सभ्य संसार का यह विश्वास है कि सन् १४९२ ई० में कोलम्बस साहबही ने पहले पहल अमेरिका का आविष्कार किया था। उनके पहले कोई बाहरी मनुष्य अमेरिका में न गया था। यह विचार केवल यूरोपियनों ही का नहीं, किन्तु एशियावालों का भी है। पर सर्वसाधारण का यह मत भ्रमात्मक है। कोलम्बस के सैकड़ों वर्ष पहले बौद्ध-धर्म-प्रचारक गण अमेरिका गये थे। और वहां उन्होंने बौद्ध-धर्म और एशियाई सभ्यता का प्रचार किया था। अमेरिका के कई स्थानों में इस बात के प्रमाण पाये गये हैं।

अमेरिका में हारपर्स मैगज़ीन (Harpers Magazine) नामका एक मासिक पत्र निकलता है। उसमें कई साल हुए पूर्वोक्त विषय पर एक महत्वपूर्ण लेख निकला था। उस लेखके अध्यापक जान फ्रायर ने उसमें यह सिद्ध किया था कि अमेरिका का पता पहले पहल बौद्धों हीने लगाया था और वहांके मेक्सिको देश में बौद्ध धर्म्म और सभ्यता का प्रचार भी किया था। फ्रायर साहेब के लेख का सारांश सुनिए—

बौद्ध लोगोंने अपने धर्म का प्रचार करने में बड़े ही अपूर्व साहस का परिचय दिया है। एशिया में शायद ही ऐसा कोई देश

हो जहां उन्होंने अपने धर्मका प्रचार न किया हो। भारतवर्ष, लंका, ब्रह्मदेश, सुमात्रा, जावा, चीन, जापान, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान, एशिया माइनर आदि न मालूम कितने देशों में घूम घूम कर उन लोगों ने अपने मतका प्रचार किया था। ईसाके पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म एशिया में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था। इसी समय काबुल, चीन और जापान के कुछ बौद्धों ने अमेरिकाके मेक्सिको राज्य में जाकर अपने धर्म का प्रचार किया।

मेक्सिको से पूर्वोक्त मतके प्रमाणस्वरूप बौद्धों के बहुत से चिन्ह पाये जाते हैं।

उनमें से वहांके बौद्ध-युगका भास्कर्य्य और स्थापत्य सबसे अधिक विश्वसनीय है। इसके चिह्न मेक्सिको के घर घर में पाये जाते हैं। इसके सिवा वहां के नगरों और ग्रामों से भी यह मालूम होता है कि मेक्सिको में बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत दिनों तक रहा। उदाहरणार्थ ग्वाटीमाला (Guatimala) लीजिए। यह "गौतमालय"का अपभ्रंश है। Oaxaca, Zacaticas, Sacatepec Zacatton Sacapulas आदि स्थानों के नाम भी "शाक्य शब्द की छाया पर बने हैं। इस बात को सब लोग जानते हैं कि संस्कृत का 'श' अक्षर अन्य भाषाओं में 'ह' 'ज' अथवा 'ख' बन जाता है। इस लिए शाक्य से साका और ज़ाकरा आदि हो जाना कुछ विचित्र नहीं। मेक्सिको में पाल के नाम का एक स्थान है। वहां बुद्ध-महाराज की एक मर्ति

मिली है। उस मूर्त्ति पर लिखा है—'शाकोमल' हमारी समझ में यह शब्द 'शाक्यमुनि' का अपभ्रंश है। तिब्बत के बौद्ध लोग अपने पुरोहित को 'लामा' कहते हैं। मेक्सिको में बौद्ध मत और बुद्ध-मूर्त्तियां सैकड़ों की तादाद में पाई गई हैं। उसके सिवा वहां ऐसे कई प्राचीन शिलालेख भी मिले हैं जिनसे यह मालूम होता है कि प्राचीन मेक्सिकोवासी बौद्धधर्मावलम्बी थे और गौतमबुद्ध की पूजा करते थे।

चीन के इतिहास-लेखक मातवानलिन कहते हैं कि—"कफिन देश (काबुल) का निवासी हुईशेन (इयसेन) नामक एक बौद्ध सन्यासो ४९९ ई० में फुसाँग देश से चीन में आया था। उसने चीन के तत्कालीन सम्राट युंगयुआन को बहुत कुछ नजर भी दी थी। सम्राट ने युकी नाम के मन्त्री को हुईशेन का भ्रमण वृत्तान्त लिखलेने की आज्ञा दी थी" चीनी भाषा में लिखा हुआ हुईशेन भ्रमण वृत्तान्त अब तक मौजूद है। उसमें 'हुईशेन ने कहा है कि सम्राट तामिंग के राजत्वकाल (४५८ ई०) में काबुल बौद्ध का केन्द्र-स्थान था। उसके पहले वहां के पांच बौद्ध भिक्षु फुसांग देश को गये थे और वहां उन्होंने बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया था।

फुसाँग देश चीन से कोई २००० ली अर्थात् ६५०० मील दूर है। वह १०००० ली अर्थात् ३२५० मील, चौड़ा है और चारो ओर समुद्र से घिरा हुआ है।

फुसाँग एक प्रकार का वृक्ष होता है। वह वृक्ष पूर्वोक्त

फुसाँग देश में बड़ी कसरत से होता है। हुईशेन ने उसी वृक्ष के नाम पर पूर्वोक्त देश का नाम फुसांग देश रक्खा था। मेक्सिको वाले आज कल फुसांग वृक्ष को आगेवी कहते हैं। उपर्युक्त चीन ग्रन्थ में फुसाँग वृक्ष का जो वर्णन लिखा है वह आगेवी से बिलकुल मिलता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि फुसांग देश और मेक्सिको देश एक ही हैं और काबुली बौद्धों ने वहां जाकर बुद्ध धर्म का अवश्य प्रचार किया था। कहते हैं कि फुसांग वृक्ष की छाल में एक प्रकार का जन्तु होता है। यह रेशम की तरह होता है। हुईशेन ने अन्यान्य बहुमूल्य वस्तुओं के साथ इसे भी चीन सम्राट को भेंट किया था। हुईशेन ने एक जगह कहा है कि फुसांग प्रदेश में चांदी, सोना, लोहा, तांबा, बहुत होता है। कोलम्बस ने भी इस बात को प्रत्यक्ष देखा था। वह तो अपने साथ बहुत सा सोना चांदी स्पेन को लाया भी था।

फुसाँग देश और मेक्सिको एक ही हैं, उसका एक और भी प्रमाण सुनिए। मेक्सिकोवाले कहते हैं कि प्राचीनकाल में एक श्वेतकाय दीर्घपरिच्छदधारी महापुरुष मेक्सिको में आया था। वह लोगों को नीति और धर्म की शिक्षा दिया करता था। उसका नाम हुई शीयेकोको था। मालूम होता है कि यह नाम 'हुईशेन भिक्षु' का अपभ्रंश है। मेक्सिको के एक और महापुरुष के सम्बन्ध में भी ऐसी ही किवदन्ती है। इन लोगों की शिक्षा और धर्म-प्रचार का जैसा वर्णन पाया जाता है उससे मालूम होता है कि ये लोग बौद्ध थे।

काबुल, चीन और जापान के वाके संन्यासी देश देशान्तरों में सदा धर्म्म प्रचार करते फिरते थे। पहले वे निकट के द्वीपों में प्रचार करने जाते थे। वहां से आगे के अन्य द्वीपों का संवाद पाकर वे वहां भी जाया करते थे।

यों ही धीरे धीरे आगे बढ़ते बढ़ते वे बड़ी दूर दूर के द्वीपों और देशों में पहुंच जाते थे। और वहां अपने धर्म्म का प्रचार करते थे। मालूम होता है कि इसी तरह प्रचार करते करते वे अमेरिका पहुंचे थे। अमेरिका का अलास्का प्रदेश चीन के निकट है। मालूम होता है कि इसी रास्ते बौद्ध लोग वहां गये थे। क्यों कि अलास्का से मेक्सिको तक समुद्र के किनारे किनारे जितने ही प्रदेश हैं। उन सब में बौद्ध धर्म्म और सभ्यता के चिह्न पाये जाते हैं। यद्यपि इन में से अधिकांश चिह्न स्पेनिश लोगों ने नष्ट कर दिये हैं, तथापि अभी बहुत कुछ अवशिष्ट हैं।

यह लिखा जा चुका है कि मेक्सिको के स्थानों और पुरोहितों के नामों में बुद्ध धर्म की झलक पाई जाती है। इसके कुछ उदाहरण और दिये गये हैं। एकाध और भी सुनिए। मेक्सिकोवाले अपने प्रधान पुरोहित को दशाका या शाका पुरुष कहते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शब्द शाक्य शाक्य का रूपान्तर मात्र है। एक अन्य पुरोहित का नाम कौनर शाका था। यह शब्द गौतमशाक्य का बिगड़ा हुआ रूप मालूम होता है।

मेक्सिको में जितने शिला लेख, मूर्तियां और मन्दिर आदि मिले हैं उनमें से अधिकांश बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखते हैं। बौद्ध-मन्दिर और दीर्घपरिच्छधारी बौद्ध पुरोहित मेक्सिको में जगह जगह देखे जाते हैं। नाना प्रकार को बुद्ध-मूर्तियों की भी वहां कमी नहीं है। सुनते हैं कि गणेश और राहु आदि की मूर्तियाँ भो मेक्सिको में मिली हैं।

पर जितने प्रमाण लिखे गये हैं उन सब से सिद्ध है कि प्राचीन कालमें एशिया के बौद्ध संन्यासी अमेरिका गये थे। और वहां उन्होंने बौद्ध-धर्म्म का प्रचार किया था। साथ ही साथ यह भी मालूम होता है कि वही लोग अमेरिका के वास्तविक आविष्कारक थे, न कि कोलम्बस और उसके साथी। इसलिए उस यश के सच्चे अधिकारी बौद्ध संन्यासी ही हैं जो इस प्रसंग में कोलम्बस को प्राप्त हुआ है।



फा-हियान की भारत-यात्रा



प्राचीन भारत के इतिहास का थोड़ा बहुत पता जो हमें लगता है वह ग्रीक और चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त से लगता है। ग्रीक वाले इस देश में सैनिक, शासक, अथवा राजदूत बन कर आते थे। इसी से इनके लेखों में अधिकतर भारतीय राजनीति, शासन-पद्धति और भौगोलिक बातों ही का उल्लेख है। उन्होंने भारतीय धर्म और शास्त्रों की छान बीन करने की विशेष परवा नहीं की। चीनी यात्रियों का कुछ और ही उद्देश था वे विद्वान् थे। उन्होंने हजारों मीलों की यात्रा इस लिए की थी कि वे बौद्धों के पवित्र स्थानों का दर्शन करें, बौद्ध धर्म की पुस्तकें एकत्र करें और उस भाषा को पढ़ें जिसमें वे पुस्तकें लिखी गई थीं। इन यात्राओं में उनको नाना प्रकार के शारीरिक क्लेश सहने पड़े, कभी वे लूटे गये कभी वे रास्ता भूल कर भयङ्कर स्थानों में भटकते फिरे और कभी उन्हें जंगली जानवरों का सामना करना पड़ा। परन्तु इतना सब होने पर भी वे केवल विद्या और धर्म-प्रेम के कारण भारतवर्ष में घूमते रहे। चीनी यात्रियों में तीन के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं-पहला फा-हियान, दूसरा संगयान और तीसरा हेनसांग। इन तीनों ने अपनी २ यात्रा का वृत्तान्त लिखा है। उसका अनुवाद अंगरेजी, फ्रेंच

आदि यूरप की भाषाओं में हो गया है। इनसे भारतीय सभ्यता का बहुत कुछ पता चलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्रियों में फा हियान सबसे पहिले भारत में आया। इसी की यात्रा का संक्षिप्त हाल नीचे लिखा जाता है। फाहियान मध्य-चीन का निवासी था। ४०० ईसवी में वह अपने देश से भारत-यात्रा के लिए निकला। इस यात्रा से उसका मतलब बौद्ध तीर्थों के दर्शन और बौद्ध धर्म की पुस्तकों का संग्रह करना था। उन दिनों चीन से भारतवर्ष आने को रास्ते थे। एक रास्ता खुतन नगर के पश्चिम से होता हुआ भारतीय सीमा पर पहुंचता था। यह रास्ता कुछ चक्कर का था। इसी से भारत और चीन के मध्य व्यापार होता था। दूसरा रास्ता जलद्वारा जाना और लङ्का के द्वापुओं से होकर था। यह रास्ता पहिले से सीधा तो था, परन्तु पीत समुद्र के तूफ़ानों ने इस सुगम जलमार्ग को बड़ा भयानक बना रक्खा था। फाहियान निडर मनुष्य था। वह भारत आया तो खुतन के रास्ते ही से, परन्तु स्वदेश को लौटा लङ्का और जावा के रास्ते। फा-हियान के साथ और भी कितने ही मुसाफिर थे। खुतन पहुंचने के लिए लाप नामक जङ्गल से होकर जाना पड़ता था। इस जङ्गल में यात्रियों को बड़ा कष्ट सहना पड़ता। कोसों पानी न मिलता। सूर्य्य की गरमी ने और भी गजब ढाया। प्यास के मारे यात्रियों का बुरा हाल हुआ। समय २ पर रास्ता भूल जाने के कारण भी उन पर बड़ी विपत्ति पड़ी। जब वे सब किसी तरह लाप नामक झील के

किनारे पहुंचे तब उनकी बड़ी बुरी दशा थी। कितने ही यात्रियों के छक्के छूट गये और उन्होंने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। पर फ़ाहियान ने हिम्मत न हारी। वह दो चार मित्रों सहित आगे बढ़ा और नाना प्रकार के कष्टों को सहता हुआ, दो मास में खु.तन पहुंचा। लोगों ने खु.तन में उनका अच्छा आदर सत्कार किया। उस समय खुतन एक हरा भरा बौद्ध राज्य था इस समय खु.तन उजड़ा पड़ा है। परन्तु हाल ही मे. डाक्टर स्टीन ने उसकी पूर्व समृद्धि के बहुत से चिह्न पाये हैं। प्राचीन महलों.स्तूपो, विहारों और बागो के न मालूम कितने चिह्न उन्हें मिले हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध मे एक पुस्तक लिखी है, जो बड़े महत्व की है। खुतन से फा-हियान काबुल आया। उस समय काबुल उत्तरीय भारत के अन्तर्गत था। काबुल से वह स्वात, गान्धार और तक्षशिला होता हुआ पेशावर पहुंचा। पेशावर में उसने एक बड़ा ऊंचा, सुन्दर और मजबूत बौद्ध स्तूप देखा। सिन्धु नदी पार करके मथुरा आया। मथुरा का हाल वह इस प्रकार वर्णन करता है।— मथुरा में यमुना के दोनों किनारे पर बीस संघाराम हैं, जिनमे लगभग ३००० साधु रहते हैं। बौद्धधर्म्म का खूब प्रचार है। राजपूताना के राजा बौद्ध हैं। दक्षिण की ओर जो देश है वह मध्य-देश कहलाता है। इस देश का जल वायु न बहुत उष्ण है, न बहुत शीतल। बर्फ अथवा कुहरे की अधिकता नहीं है। प्रजा सुखी है। उन्हें अधिक कर नहीं देना पड़ता। शासक लोग कठोरता नहीं करते। जो लोग

भूमि जोतते और बोते हैं उन्हें अपनी पैदावारी का एक निश्चित भाग राजा को देना पड़ता है। लोग अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जहां आ जा सकते हैं। अपराधी को उसके अपराध के गौरव-लाघव के अनुसार भारी अथवा हलका दण्ड दिया जाता है। शारीरिक दण्ड बहुत कम दिया जाता है। बार बार विद्रोह करने पर कहीं दाहिना हाथ काटे जाने का दण्ड दिया जाता है। राजा के शरीर-रक्षकों को नियत वेतन मिलता है। देश भर में जीवहत्या नहीं होती। चाण्डालों के अतिरिक्त कोई मद्यपान नहीं करता और न कोई लेहसुन और प्याज ही खाता है। इस देश में कोई न तो मुर्गी ही पालता है और न बतख ही। पालतू पशु भी कोई नहीं बेचता। बाजारों में पशु-वध-शालायें अथवा मांस बेचने की दुकानें नहीं। सौदा सुलफ में कौड़ियों का व्यवहार होता है। केवल चाण्डाल ही पशु-वध करते और मांस बेचते हैं। बुद्ध भगवान के समय से यहां की यह प्रथा है कि राजा, महाराजा, अमीर, उमराव और बड़े आदमी विहार निर्माण करते हैं और उनके खर्च के लिए भूमि इत्यादि का दान-पत्र लिख देते हैं। पीढ़ियां गुजर जाती हैं वे विहार ज्योंके त्यों विद्यमान रहते हैं। उनका खर्च दान दी हुई भूमि की आमदनी से चलता रहता है। उस भूमि को कोई नहीं छीनता। विहारोंमें रहने वाले साधुओं को वस्त्र भोजन और बिछौना मुफ्त मिलता है।

मथुरा से फा-हियान कन्नौज आया। वह नगर, उस समय, गुप्त राजाओं की राजधानी थी। उसने कन्नौज के विषय में

इसके सिवा और कुछ नहीं लिखा कि वहां संघाराम थे। कौशल-राज्य की प्राचीन राजधानी श्रावस्ती उजाड़ पड़ी थी। उसमें केवल दो सौ कुटुम्ब निवास करते थे। जैतवन, जहां भगवान बुद्ध ने धर्मोपदेश किया था। विहार के पास एक तालाब था, जिसका जल बड़ा निर्मल था। कई बाग़ भी थे, जिनसे विहार की शोभा बहुत बढ़ गई थी। विहार मे रहने वाले साधुओं ने फा-हियान का हर्ष-पूर्वक स्वागत किया और उसकी इस कारण बड़ी बड़ाई की कि उस ने यात्रा धर्म प्रेम के वशीभूत होकर की थी। भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान कपिल-वस्तु की दशा फा-हियान के समय में, बुरी थी। वहां न कोई राजा था, न प्रजा। नगर प्रायः उजाड़ था। केवल थोड़े २ साधु और दस-बीस अन्य जन वहां थे। कुशीनगर भी, जहां भगवान बुद्ध की मृत्यु हुई थी, बुरी दशा मे था। उस वैसाली नगर को जहां बौद्ध धर्म की पुस्तकों का संग्रह करने के लिए बौद्धों का दूसरा सम्मेलन हुआ था, फा-हियान ने अच्छी दशा में पाया प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर के विषय में फा-हियान ने लिखा है कि उसका पुराना राजमहल बड़ा विचित्र है। उस के बनाने मे बड़े २ पत्थरों से काम लिया गया है। मनुष्यों के हाथों मे वह न बना होगा। बिना आसुरी शक्ति के कौन इतने बड़े २ पत्थर ऊपर चढ़ा सका होगा। अवश्य ही अशोक ने उसे असुरों द्वारा बनवाया होगा। फा-हियान का कथन है कि अशोक के स्तूप के समीप ही एक सुन्दर संघाराम बना हुआ है, जिसमें लगभग छः सात सौ साधु रहते हैं। प्रति वर्ष

दूसरे महीने के आठवें दिन वहां एक उत्सव होता है। उस अवसर पर चार पहिये का एक रथ बनाया जाता है। उस रथ के ऊपर पांच खण्ड का एक मन्दिर रक्खा जाता है। मन्दिर वांसों का वनता है। उसके बीच में सात आठ गज लम्बा एक वांस रहता है। वही उसे साधे रहता है। मन्दिर श्वेत वस्त्र से मढ़ दिया जाता है। पर उसका पिछला भाग चटकीले रङ्गों से रँगा रहता है। सुन्दर रेशम के शाभियानों के नीचे देव मूर्तियां वस्त्राभूषण से सजा रक्खी जाती है। रथ के चारो कोनों में चार ताक रहते हैं। उन ताकों में वुद्ध भगवान की वैठी हुई मूर्ति स्थापित की जाती है। इस प्रकार के कोई वीस रथ त्यार किये जाते हैं। उत्सव के दिन वड़ी भीड़ होती है। खेल तमाशे होते हैं और मूर्तियों पर फूल आदि चढ़ाये जाते हैं। उस दिन वौद्ध लोग नगर में प्रवेश करते है। वहीं वे ठहरते हैं और सारी रात हर्ष मनाते हैं। इस अवसर पर दूर २ से लोग आते हैं और उत्सव में सम्मिलित होते हैं। धनवान लोगों ने नगर में कितनेही औषधालय खोल रक्खे हैं जहां दीन दुखिया, लँगड़े-लूले और अन्य असमर्थ जनों का इलाज होता है। उनको हर प्रकार की सहायता दी जाती है। वैद्य उनके रोगोंकी परीक्षा कर के औषधि सेवन कराते हैं। वे वहीं रहते हैं और पथ्य भी उन्हें वहीं मिलता है। निरोग हो जाने पर वे अपने घर चले जाते हैं।

राजगृह में पहिला वौद्ध सम्मेलन हुआ था इस लिये उसे देखता हुआ फ़ा-हियान गया पहुंचा। गया में उसने

बुद्ध वृक्ष और अन्य पवित्र स्थानों के दर्शन किये। वह काशी कौशाम्बी भी गया। काशी में उस स्थान पर जहां भगवान बुद्ध ने पहिली वार सत्य का उपदेश दिया था, दो सङ्घाराम थे। काशी से वह फिर पाटलिपुत्र लौट गया। फाहियान चीन से धार्मिक पुस्तकों की खोज में चला था। पाटलिपुत्र में विनयपीठक की एक प्रति उस के हाथ लग गई। पुस्तक लेकर वह अङ्गदेश की राजधानी चम्पा होता हुआ ताम्रलिप्ति (तमलुक) पहुंचा वहां उसने बौद्ध धर्म का अच्छा प्रचार देखा। उस नगर में २४ सघाराम थे। फाहियान वहां दो वर्ष तक रहा। यह समय उसने धर्म पुस्तकों की नकल करने में खर्च किया। तत्पश्चात् जहाज पर सवार होकर लगातार १४ दिन और यात्रा करके वह सिहल द्वीप पहुंचा। वहां से वह अनिरुद्धपुर गया। बौद्धस्तूप और बुद्ध-वृक्ष के भी उसने दर्शन किये। लङ्का में उसने कुछ और भी धर्म पुस्तकों का संग्रह किया। लङ्का का वर्णन वह इस तरह करता है।–

"लंका में पहिले बहुत कम मनुष्य रहते थे। धीरे २ व्यापारी लोग वहां आने लगे। अन्त में वहीं वहां बस गये। इस प्रकार वहां की आबादी बढ़ी और राज्य की नींव पड़ी। यहां भगवान बुद्ध आये।* उन्हों ने यहां के निवासियों को बौद्ध बनाया। लङ्का का जल वायु अच्छा

* भगवान बुद्ध लङ्का कभी नहीं गये

है। सब्जी बहुत होती है। राजधानी के उत्तर में बड़ा ऊँचा स्तूप है। समीप ही एक सङ्घाराम भी है। जिस में ५०१० साधु रहते हैं।"

फ़ा-हियान लङ्का में दो वर्ष रहा। उसे स्वदेश छोड़े बहुत वर्ष हो गये थे, इससे उसने चीन लौट जाना विचारा। उसी समय एक व्यापारी ने उसे चीन का बना हुआ एक पङ्खा भेंट किया। अपने देश की बनी हुई वस्तु देख कर फ़ा-हियान का जी भर आया। उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली अन्त में उसे स्वदेश लौट जाने का एक साधन भी प्राप्त हो गया। एक जहाज़ दो सौ यात्रियों सहित उस ओर जाता था। वह भी उसी पर बैठ गया। जहाज़ को हलका करने के लिये खलासी जहाज़ पर लदी हुई चीज़ों को समुद्र में फेंकने लगे। बहुत माल असबाब फेंक दिया गया। फ़ा-हियान ने अपने सारे बर्त्तन तक समुद्र में इस डर के मारे फेंक दिये कि कहीं इनके मोह में पड़ने के कारण लोग उस की अमूल्य पुस्तकें और मूर्तियां समुद्र के हवाले न कर दें। तेरह दिन की कठिन तपस्या के बाद एक छोटा सा टापू मिला। वहां जहाज़ की मरम्मत हुई। सैकड़ों कष्ट सहने पर ९० दिन बाद जहाज़ जावा द्वीप में पहुंचा। जावा में उस समय बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म, दोनों का प्रचार था।

फ़ा-हियान जावा में पांच महीने रहा। तत्पश्चात् वह

एक और जहाज़ पर सवार हुआ। चलने के एक महीने बाद इस जहाज का भी कील कांटा बिगड़ा। यह देख कर मल्लाहों ने सलाह की कि जहाज पर शमेण फा-हियान के होने ही के कारण हम पर यह विपत्ति आई है। अतएव कोई टापू मिले तो इसे वहां उतार दें, जिसमें जहाज की यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। यह वहां चाहे मरे चाहे बचे। इस जहाज़ के यात्रियों में एक व्यापारी बड़ा सज्जन था। वह फाहियान से प्रेम करने लगा था। मल्लाहों की इस सलाह का घोर प्रतिवाद किया। इसी के कारण बेचारे फा-हियान किसी निर्जन टापू में छोड़ दिये जाने के कारण बच गया। ८२ दिन के यात्रा के बाद दक्षिण चीन के समुद्र तट पर वह सकुशल उतर गया और अपने को कृतकृत्य माना।



प्राचीन भारत में युद्ध-व्यवस्था



प्राचीन समय से लेकर आज तक भारत में युद्ध के अनेक प्रकार के दृश्य दिखाये हैं। प्राचीन भारत के जातीय जीवन मे युद्ध एक मामूली बात थी। पहले भारत में आते ही आर्य्यजाति को अनेक युद्ध करने पड़े। उन्हें यहां के प्राचीन निवासियों के साथ तो लड़ना ही पड़ा, पर परस्पर में भी उनमें खूब युद्ध होता था। ऋग्वेद में वसिष्ठ और विश्वामित्र के युद्ध का वर्णन इस बात का प्रमाण है। आर्य्य-जाति ने युद्धों में ही परास्त करके यहां के प्राचीन निवासियों को अपना दास बनाया। दास के जो कार्य निर्दिष्ट हैं वे इन लोगों के ऊपर हमारी जीत की इस समय भी गवाही दे रहे हैं। आर्यों को राक्षस और दानव कहे जाने वाले बाहरी शत्रुओं से भी खूब लड़ना पड़ा। उन्हों ने इन लोगों के साथ कई बार बड़े बड़े युद्ध किये। इनका वर्णन वेदों तक में पाया जाता है। राक्षसों के साथ आर्य्य जाति को निरन्तर युद्ध करना पड़ा। इसी से उस समय आर्यों को अपना समुदाय तीन भागों में विभक्त करना पड़ा—पहला ब्राह्मण दूसरा क्षत्रिय नाम से अभिहित हुआ। ब्राह्मणों का कार्य देश में शान्ति स्थापना और क्षत्रियों का अपने देश की रक्षा शत्रुओं से करना निश्चित हुआ।

ये दो विभाग हो जाने से कृषि, वाणिज्य आदि अन्य अन्य कार्य करने वाले तीसरे विभाग में गिने गये। वे वैश्य कहलाये।

आर्यों के वैदिक भी बड़े युद्ध-प्रिय थे। युद्ध करना उनका स्वाभाविक काम था। युद्ध में इन्द्र की अच्छी प्रतिष्ठा थी। युद्ध में ही विजय पाने के कारण इन्द्रदेव इन्द्रासन के मालिक हुए हैं।। आप देवराज भी इसी कारण कहलाये हैं। इन्द्र ने बड़े बड़े राक्षसों का वध किया है। वित्रासुर, विप्रु और सम्बर आदि के अतिरिक्त और भी अनेक राक्षसो का आपने नाश किया है। हमारे प्राचीन कवियों ने इन्द्र के इस बड़े भारी महत्व के कारण अपनी कविताओं में इनके इन गुणों का खूब वर्णन किया है। वेदों में इन्द्र की अनेक स्तुतियां हैं। अग्नि, मित्र, वरुण, मरुत और अश्विनीकुमार आदि भी युद्ध में विजयी हुए थे। इसीसे वे भी बड़े यशस्वी और प्रतिष्ठापात्र माने गये हैं। प्राचीन समय में जब क्षत्रिय लोग युद्ध में जाने के लिए तयार होते थे तब अपने अपने इष्टदेवताओं से युद्ध में अपनी सहायता के लिए प्रार्थना करते थे। युद्ध के समय प्राचीन काल में सोमपान खूब किया जाता था। सोमपान से शरीर में बल की वृद्धि होती थी। युद्ध में बलवान की जीत होती है। अध्यापक राजगोपाला चार्य्य, एम० ए० ने इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण लेख "इंडियन-रिव्यू" में प्रकाशित किया है। अंगरेजी न जानने वाले पाठकों के सुभीते के लिए उसका सारांश लिखा जाता है।

हमारे यहां युद्ध दो प्रकार का था। एक धर्म-युद्ध, दूसरा-कूटयुद्ध। धर्म-युद्ध पूर्व निश्चित नियमोंके अनुसार होता था। कूट युद्ध में नियमों की पाबन्दी न होती थी। छल, कपट और चाल-बाज़ी से एक दूसरे को हराने की चेष्टा करता था। कूट-युद्ध प्रायः राक्षस लोग ही करते थे। इसी लिए देवता भी उन्हें परास्त करने के लिए कूट-युद्ध का आश्रय लेने लग गये थे। यह कूट-युद्ध का महत्व कोई भी पक्ष स्वीकार नहीं करता था। जहां तक होता था, लोग धर्म-युद्ध का ही आश्रय लेना पसन्द करते थे। धर्म्म-युद्ध का अधिक महत्व होने पर भी लोग शस्त्रास्त्रो के नये नये आविष्कारो से उदासीन न थे। तरह तरह के धनुप, बाण, भाले, बर्छे और जिरह बख्तर आदि युद्धोपयोगी वस्तुओ का प्रचार धारे धीरे खूब बढ़ गया था। युद्ध-विद्या में इस समय अच्छी तरक्क़ी हो चुकी थी। प्राचीन आर्य्य छोटी ही छोटी लड़ाई न लड़ा करते थे। वे लाखों मनुष्य एकत्र कर क लड़ाई के मैदान में कभी कभी बाकायदा डट जाते थे। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में बड़े बड़े युद्धा का वर्णन है। रामायण के समय से लगा कर महाभारत के समय तक कई बड़े बड़े युद्ध हुए हैं। उनमें प्रत्येक पक्ष के योद्धाओं की संख्या लाखों थी। इस से सिद्ध है कि उस समय युद्ध-विद्या विशेष उन्नति हो गई थी और आर्य्य लोग खूब रण-निपुण हो चुके थे। चक्रव्यूह के सदृश कितने ही व्यूहों की रचना करके वे युद्ध करते थे। महाभारत में कई स्थानों पर इस प्रकार की रचनाओं का वर्णन है। एक व्यूह-रचना वे ऐसी

करते थे जिनमें सैनिकों का मुँह चारो ओर शत्रु के सामने हो रहता था, शत्रु का कोई भा अन्श सेना के पीछे से आक्रमण न कर सकता था।

जो नवीन अस्त्र या शस्त्र पहले-पहल आविष्कृत होता था उसे धर्म-युद्ध के नियमानुसार कोई भी युद्ध के काम में न ला-सकता था। इसको काम में लाने के लिए दोनों पक्षो की स्वीकृति दरकार होती थी। दोनों पक्ष उस आयुध को काम में लाना जब अच्छी तरह जान लेते थे तभी उसका व्यवहार होता था। यही बात किसी समय यूरोप में भी थी। लोग नवीन शस्त्रास्त्रों को राक्षसी या दानवी समझते थे। इसलिए धनुष और गोली गोले आदि वहां बहुत पीछे से, धीरे धीरे काम में लाये जाने लगे। पहले पहल यूरोप में अप्रचलित शस्त्रास्त्रों को काम में लाने वाले सैनिक लड़ाई के मैदान में, बिना दोनों पक्षो की स्वीकृति के नहीं आसकते थे। पर अब तो थल सुरंग और जल सुरंग जैसे भयानक और नाशक यन्त्रों के प्रयोग की भी कोई रोक टोक नहीं। १९०७ ईसवी में हेग के द्वितीय शान्ति-सभा ने अपने तृतीय अधि-वेशन तक के लिए इस विषय में एक नियम बना दिया था। इस नियम में हवाई जहाजों द्वारा गोले या बम फेकने की, विशेष कर अरक्षित स्थानों पर मनाही है। पर वर्तमान घोर संग्राममें जर्मनों ने इस नियम को तोड़ डाला है। अब हवाई जहाजों से यथेच्छ, धड़ाधड़ गोले बरसाये जा रहे हैं। कोई आश्चर्य्य-कारक और नई बात नहीं है। हमारे यहां भी राक्षस लोग धर्म-युद्धका तिरस्कार

करके कभी कभी कूट-युद्ध करने लगते थे। उन्हें परास्त करने के लिए देवता भी उसी नीति का अवलम्बन करते थे। इन्द्र ने वृत्रासुर को इसी तरह मारा था। इन्द्र का यह कार्य उस समय भी विशेष प्रशंसनीय न समझा गया था।

धीरे धीरे समय ने पलटा खाया और सभ्यता का प्रभाव अधिक पड़ने लगा। अतएव स्मृतियों और धर्म-शास्त्रों ने धर्म युद्ध का ही अधिक महत्व निश्चित किया। स्मृतियों में राज-धर्म के साथ युद्ध का घनिष्ट सम्बन्ध माना गया है। अर्थ शास्त्र (Political Economy) में भी युद्ध और शासन शक्ति की वृद्धि के कारणों पर विचार किया गया है। मनु और याज्ञवल्क्य के स्मृतियों में, महाभारत तथा कई एक पुराणों में, शुक्राचार्य, कामन्दक और कौटिल्य के ग्रन्थों मे, युद्धविग्रह के तत्त्वों की खूब विवेचना की गई है, वह बड़े मार्के की है। राजा को युद्ध से भूमि और शक्ति का लाभ तो होता है, पर उसे हानि भी बहुत उठानी पड़ती है। अर्थ-शास्त्र और स्मृति-ग्रन्थ युद्ध को केवल राज-धर्म निभाने के लिए ही उपयुक्त समझते हैं। युद्धसे प्रजा को किसी प्रकारका कष्ट न पहुंचे, इस लिए लड़ने वाले दोनों पक्षों को यथाशक्ति उद्योग करना पड़ता है। प्रजा से युद्ध का सम्बन्ध करना वे अनुचित समझते है।

महाभारत के शान्ति पर्व के अध्याय ५७ और ५८ में राज-नीति तथा राज-धर्म का अच्छा विवेचन है। इससे पता चलता

है कि प्राचीन काल मे राजा के अस्तित्व, राजा के संरक्षण और शत्रु-मित्र के साथ सन्धि तथा विग्रह के लाभों को लोग अच्छी तरह समझते थे। राजनीति की रचना करते कितने ही महर्षियों का नाम महाभारत में है—

"बृहस्पतिर्हि भगवान् नान्यं धर्मं प्रशंसति।
विशालाक्षश्च भगवान् काव्यश्चैव महातपाः॥
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः।
भारद्वाजश्च भगवान् तथा गौरशिरा मुनिः॥
राज शास्त्र प्रणेतारो ब्रह्मण्याब्रह्मवादिनः"।

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ५८, श्लो० १. २, ३,

इन ऋषियों के बाद शुक्राचार्य की नीतिसार, कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र और कामन्दक का नीतिसार आदि ग्रन्थ राजधर्म और राजनीति के नियमों से परिपूर्ण हैं। शुक्राचार्य का नीतिसार प्राचीन राजशास्त्रों के प्रणेता ऋषियों से कुछ पीछे का अवश्य है पर है वह बड़े महत्व का। शुक्राचार्य के नीतिसार में राजा का कर्तव्य, शत्रु, और मित्र का निर्देश, कोश और द्रव्य का संरक्षण, दुर्गों की रचा और सेना सजाना आदि कई विषय बड़े मारके के हैं। अन्त में व्यवहार-शास्त्र पर भी एक अच्छा निबन्ध है।

शुक्राचार्य राक्षसों के गुरु माने जाते हैं। उन्होंने कूट-युद्ध और धर्म-युद्ध दोनों का वर्णन किया है। नियम और न्याय पूर्वक जो युद्ध न हो उसे वे भी कूट युद्ध अर्थात अधर्मयुद्ध मानते

हैं। जिस प्रकार राक्षसों का कूट-युद्ध करना कहीं कहीं प्रसिद्ध है उसी प्रकार शुक्राचार्य ने राम, कृष्ण, और इन्द्र आदि देवताओं का भी कूट-युद्ध में प्रवृत्त होना साबित किया है। शुक्राचार्य प्रार्थना और खुशामद के द्वारा भी शत्रु से अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेना बुरा नहीं समझते। अपमान हो तो हर्ज नहीं, कार्य्य सिद्ध होना चाहिए। इसी से शुक्राचार्य के नीति का अधिक आदर नहीं हुआ।

कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र को प्राप्त हुए थोड़े दिन हुए। वे महाशय, कौटिल्य, चाणक्य और विष्णुगुप्त आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी नीतिज्ञता के कारण ही सारे नन्द-वंश को मटिया मेट कर दिया। चन्द्रगुप्त को नन्द के राज्य का राजा बनाकर मौर्यवंश के शासन की नींव उन्हीं ने डाली। उनकी नीतिज्ञता और युद्ध कुशलता आदि का चित्र मुद्राराक्षस में खूब खींचा गया है। उनका अर्थ-शास्त्र ईसा से ४०० वर्ष पूर्व का माना जाता है।

कामन्दक ने अपना नीतिसार बड़ी रत्न भाषा में लिखा है। कामन्दक ने राजशास्त्र बनाने वाले प्राचीन ऋषियों का नाम दिया है। और शुक्राचार्य के कूटयुद्ध की उपयोगिता स्वीकार की है। निर्बल राजा के सबल शत्रु के साथ युद्ध करने में कूट युद्ध का आश्रय लेना कामन्दक के मत से बुरा नहीं। शत्रु की सोती हुई और असावधान सेना पर आक्रमण करना भी कामन्दक की दृष्टि में बुरा नहीं।

स्मृतियों और पुराणादिकों में धर्म-युद्ध को ही अधिक महत्व दिया गया है। कूट युद्ध को लोग पाप--कर्म से कम नहीं समझते थे। उस समयके राजशास्त्र और राज-धर्म आदि विषयों के ग्रन्थों से सूचित होता है कि तत्कालीन नरेश युद्ध करना केवल कठिन समस्याओं की पूर्ति के लिए उचित समझते थे। साधारण बातों के लिए युद्ध करना हेय और घृणा के योग्य समझा जाता था। पर एक बार युद्ध में प्रवृत्त होकर उससे पीठ फेरना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता था। जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्र मरना गौरवास्पद और स्वर्ग-प्राप्ति का कारण समझा गया है उसी प्रकार युद्ध से भागना निन्दनीय और नरक प्राप्ति का कारण माना गया है।

कुछ ग्रन्थकारों ने, विशेष कारण उपस्थित होने पर, युद्ध को महत्व भी दिया है। मनु महाराज लिखते हैं:—

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्र धर्ममनुस्मरन् ॥
संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानाञ्चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानाञ्च राज्ञा श्रेयस्कर परम् ॥
आहवेषु मिथोऽन्यान्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परम् शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥

अ० ७०, श्लोक ८७, ८८, ८९

अर्थात् राजा को क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध से कभी न हटना चाहिए। क्षत्रिय के लिये युद्ध श्रेष्ट कार्य है। परस्पर लड़ते हुए

और एक दूसरे को मारते हुए जो लोग रणक्षेत्र में शरीर त्याग करते हैं वे सीधे स्वर्ग चले जाते हैं।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी इसी प्रकार कहा गया है:—

न आहवेषु त्यजन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥
पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वार्य निवर्तिनाम्।
राजा सुकृतिमादत्ते हतानां विपलायनाम् ॥

अ० १, श्लो० ३२४—३५५।

मतलब यह कि वर्जित अस्त्र-शस्त्रों से लड़कर जो रण भूमि में शरीर छोड़ते हैं वे योगियों के सदृश स्वर्ग को चले जाते हैं। जो लोग अपनी सेना के नष्ट हो जाने या भाग जाने पर रणक्षेत्र में डटे रहते हैं और आगे ही बढ़ते जाते हैं उन्हें पद पद पर यज्ञ का फल होता है। इसके विपरीत जो लोग भाग कर मारे जाते हैं, उनका सब पुण्य राजा को प्राप्त होता है।

शुक्राचार्य का भी यही कथन है। उनके मत से जो रण-क्षेत्र में लड़ते हुए मारा जाता है वह सीधे स्वर्ग को जाता है और जो भागता है वह संसार में हेय, घृणा और नीच समझा जाता है। मरने पर उसे घोर नरक होता है।

शुक्रनीति की आज्ञा है कि स्त्री, बालक और गाय पर अत्याचार होना देख ब्राह्मण भी युद्ध करने लगे। ऐसे अवसर पर युद्ध करने से ब्राह्मण को पाप नहीं होता। इस नीति में यह भी लिखा है कि क्षत्रिय का बिछौना पर मरना पाप है। उसे रण-

क्षेत्र में ही मरना चाहिये। रण-क्षेत्र में न मरने वाले के लिये मूर्खता है।

श्री मद्भगवत गीता में भी श्री कृष्ण ने धर्मयुद्ध का बड़ा महत्व सूचित किया है। वे कहते हैं:—

धर्म्याद्ध युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम।

अर्थात—क्षत्रिय के लिये धर्म-युद्ध से बढ़ कर और कोई स्थान कल्याणकारी नहीं है। ऐसा युद्ध क्षत्रियों के लिये अपने आप ही खुले हुये स्वर्ग द्वारा के सदृश है।

गीता की इस अन्तिम बात से भी ज्ञात होता है कि हमारे यहां युद्ध को बड़ा महत्व दिया जाता था। महाभारत में " यतो धर्मस्ततो जयः " कह कर धर्म-युद्ध की विशेष महत्ता सूचित की गई है।

हमारे नीतिशास्त्र में साम, दान, दण्ड, और भेद ये चार नीतियां शत्रु को पराङ्मुख करने के लिये उपयुक्त मानी गई हैं। मनु महाराज युद्ध का मुख्य फल राजा के लिये भविष्यत् में एक अच्छा मित्र खोज लेना बतलाते आते हैं। वे धन या भूमि की प्राप्तिको अधिक महत्व नहीं देते। पूर्वोक्त चारों नीतियां में से किसी भी एक या एकाधिक के द्वारा मुख्य फल प्राप्त कर लेना ही, मनु के मत से, युद्ध का अन्तिम उद्देश्य होना चाहिये।

आज कल जर्मनी की जासूसी का वृत्तान्त पढ़ कर आ-

श्चर्य्य करते हैं। पर हमें स्मरण रखना चाहिये कि भारत में बहुत पहिले भी जासूसी का प्रचार था। राजा का नाम चारचक्षु अर्थात् जासूसों की आंखों से देखने वाला है। हरएक राजनीति के लेखक ने दूतों के काम निर्दिष्ट किये हैं। प्राचीन काल में दूतो के द्वाराही युद्ध घोषणा की सूचना दी जाती थी। दूत सदा अवध्य माने जाते थे। रामायण और महाभारत में इसके कई उदाहरण हैं। हनूमान् ने जब लंका का दहन किया तब रावण उन पर बहुत कुपित हुआ। परन्तु विभीषण ने रावण से दूत का अवध्य होना बतलाकर हनुमान को मुक्त करवा दिया। महाभारत में भी ऐसे ही कई उदाहरण पाये जाते हैं।

बौधायन, मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने नियम बना दिये हैं कि किन शस्त्रों से लड़ना चाहिये, किन्हें मारना चाहिये और किन्हें न मारना चाहिये। इन नियमों से न्याय विवेक और दया का भाव खूब झलकता है। देखिये :—

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्य मानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्नि ज्वलिततेजनैः॥
न च हन्यात्स्थलारूढं नक्लीवं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्त केशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥

मनु० अ० ७, श्लो० ९१--९३

याज्ञवल्क्य भी कहते हैं :—

तत्राह वादिनं क्लीवं निर्हेतिं पर संगतम्।
न हन्याद्विनिवृत्तं च युद्ध प्रेक्षणकादिकम्॥

पहले योरप में कुछ कुछ ऐसे ही नियम प्रचलित हैं। वर्तमान युद्ध में तो नियमों की बहुत कुछ अवहेलना हो रही है, जो जर्मनी की उक्त सभ्यता का फल है।

ऊपर के प्रमाणों से भारत की सभ्यता का अच्छा परिचय भी मिलता है। भारतीय जन-समाज उस प्राचीन समय में भी उन्नति के जिस पथ पर था वह और देशों के लिये इस समय भी दुर्लभ है।

आज कल विपक्षी की प्रजा तथा भूमि और नगर आदि व्यर्थ ही नष्ट किये जाते हैं। यह बात पूर्व काल में न होती थी। महाभारत के युद्ध में १८ * अक्षौहिणी सेना थी। एक अक्षौहिणी में २१८७० रथारूढ़, इतने ही गजपति, ६५६१० घुड़सवार और १०९३५० पैदल होते हैं। इस प्रकार पाण्डवों की ७ अक्षौहिणी और कौरवों की ११ अक्षौहिणी मिला कर कोई चालीस लाख सेना हुई। यह इतनी बड़ी सेना यदि प्रजा को कष्ट पहुँचाना और देश का नाश करना चाहती तो खूब कर सकती थी। इस युद्धमें भारतके सारे राजे महाराजे शामिल थे। यदि वे एक दूसरे की सीमापर अपना अपना अधिकार जमाना चाहते और

---

* अक्षौहिण्या, प्रमाणं तु खागाष्टैकद्विकैर्गजैः।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः॥

एक दूसरे के साथ वहीं लड़ाई प्रारम्भ कर देते तो एक नया ही महाभारत होने लगता। पर ऐसा न होकर लड़ाई के लिए कुरुक्षेत्र जैसा मैदान चुना गया, जिससे न तो प्रजा को कष्ट पहुँचा और न देश ही नष्ट हुआ।

यद्यपि धर्म-युद्ध हमारे यहाँ श्रेष्ठ माना गया है तथापि कभी कभी हमें शत्रु के देश को उजाड़ना और उसकी प्रजा को कष्ट भी पहुँचाना पड़ता था। यह उस दशा में करना पड़ता था जब शत्रु अपने किले के भीतर रह कर लड़ता था। मनु ने एक स्थान पर कहा है—

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्॥



प्राचीन भारत में शस्त्र-चिकित्सा।



डाक्टर गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्या, बी० ए०, एम० डी, ने भारतीय आयुर्वेद में वर्णित शस्त्र-चिकित्सा और उसके यन्त्र आदि के विषय में एक पुस्तक लिखी है। पुस्तक अंगरेजी में है। कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने उसे प्रकाशित किया है। उसका नाम है—"The Surgical Instruments of the Hindus" अर्थात हिन्दुओं के चिकित्सा-शस्त्र।

पुस्तक लिखने में लेखक ने अच्छा परिश्रम और अनुसन्धान किया है। हर्ष की बात है कि अब भारतवासी भी भारत के प्राचीन महत्व को ढूंढ़ निकालने में तत्पर हुए हैं। अभी तक तो यह काम विदेशियो ही के हाथ में था। डाक्टर वाइज़, रयेल, हार्नले, जली, कडियार, ओसानोस्कि आदि यूरोप के विद्वानों की तरह डाक्टर उदयचान्द दत्त, गोंडाल के ठाकुर साहेब और डाक्टर राय आदि भारतीयों ने भी आयुर्वेद की कितनी ही बातों का बहुत कुछ अनुसन्धान किया है। डाक्टर मुखोपाध्याय ने तो उपर्युक्त पुस्तक लिखकर बड़ा ही उपकार किया है। जो लोग कहते हैं कि आयुर्वेदीय प्रणाली के अनुसार प्राचीन काल में शस्त्र-चिकित्सा का प्रचार न था उनका भ्रम अब अवश्य दूर हो जावेगा। प्राचीन भारत में शस्त्र-चिकित्सा का

केवल प्रचार ही रहा हो सो नहीं, वह उन्नत दशा में थी।

भारत में आयुर्वेदीय प्रणाली के अनुसार अब शस्त्र-चिकित्सा या जर्राही नहीं होती। उसका विशेष प्रचार सुश्रुत के समय से लगा कर वाग्भट के समय तक था। वाग्भट के समय से ही उसका प्रचार घटने लगा। मुखोपाध्या जी की पुस्तक में हिन्दुओं के प्राचीन शस्त्रों आदि के चित्र देख कर अब तो लोगों को इस बात का विश्वास ही नहीं होता कि दो ढ़ाई हजार वर्ष पहले कभी उनका उपयोग होता था।

शारीरिक विद्या (Anatomy) और शस्त्र-चिकित्सा की उत्पत्ति वास्तव में साम वेद से हुई है। पर कायिक–चिकित्सा का उत्पत्ति-स्थान अथर्व वेद है। अथर्व वेद में "प्रायुष्यानि" और "भैपज्यानि" आदि कई मन्त्र इस विषय के हैं। वैदिक साहित्य में शारीरिक और अस्त्र-चिकित्सा सम्बन्धिनी बातों का वर्णन कई जगह है। जान पड़ता है, यज्ञों में मारे गये पशुओं के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के नाम से ही आयुर्वेदीय शारीरिक विद्या का उद्भव हुआ है।

वैदिक काल से लगाकर सुश्रुत के समय तक शस्त्र-चिकित्सा का महत्वपूर्ण वर्णन किया है। पर इस चिकित्सा में वैदिक काल से लगा कर सुश्रुत के समय तक जो उन्नति हुई उसका इतिहास मिलना कठिन है। केवल इतना ही जाना जाता है कि स्वर्गवैद्य भगवान धन्वन्तरि के अवतार काशीराज दिवोदास शस्त्र-चिकित्सा के सब से पहले प्रवर्तक हैं। उनके बारह शिष्य थे–

सुश्रुत, औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुर, रक्षित, तिमि, ..ङ्कायन, गार्ग्य और गालव। इनमें से औपधेनव, औरभ्र और पौष्कलावत के शल्यतन्त्रों (शस्त्रचिकित्साशास्त्रों के उल्लेख सुश्रुत के समकालीन थे या उसके पहिले भी मौजूद थे इसके जानने का कोई उपाय नहीं। पर इसमें सन्देह नहीं कि वैदिककाल के बाद और सुश्रुत के समय के पहले शस्त्र-चिकित्सा विषयक बहुत से ग्रन्थ बने थे।

भारत में शस्त्र-चिकित्सा का सर्वश्रेष्ठ सुश्रुत है। सुश्रुत ही की शस्त्र-चिकित्सा का सार वाग्भट ने अपने ग्रन्थ में लिखा है। वाग्भट ने, शस्त्र-चिकित्सा के कुछ नवीन शस्त्रों का भी वर्णन किया है। यही दोनों ग्रन्थ भारतीय शस्त्र-चिकित्सा के आधार हैं। इनका और इन पर रची गई टीकाओं का ही आधार लेकर डाक्टर गिरीन्द्रनाथ ने अपनी पुस्तक लिखी है। अच्छा तो सुश्रुत और वाग्भट का समय कौन सा है। हार्नले साहेब ने सुश्रुत को वैदिक युग का ग्रन्थ ठहराया है। पर हमारी समझ में अथर्व वेद से पहले का वह नहीं हो सकता। सुश्रुत और चरक के ग्रन्थ वैदिक युग में बने, यह सम्भव नहीं। अथर्ववेद का समय ईसा से एक हज़ार वर्ष पहिले माना जाता है। अथर्ववेद में मन्त्रों द्वारा रोग निवृत्ति का उपाय बताया गया है। चरक और सुश्रुत जैसी नियमबद्ध चिकित्सा का वर्णन उसमें नहीं। अतएव अथर्व वेद की रचना के सात आठ सौ वर्ष बाद चरक और सुश्रुत की रचना हुई होगी। इसी बीच में रोग-चिकित्सा-ज्ञान की अच्छी

उन्नति भारत में हुई। चरक की भाषा ब्राह्मण-युग के अन्तिम समय की है और सुश्रुत की उससे भी पीछे की। चरक के विषय में लोग कहते हैं कि पतञ्जलि ने उस पर टीका की है। कोई कोई तो कहते हैं कि पतञ्जलि ने उसका पुनः संस्कार ही किया है। पतञ्जलि ईसा के पहले दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे। यदि यह मान लें कि चरक उनसे दो सौ वर्ष पहले विद्यमान थे तो उनका समय ईसा से ४०० वर्ष पहले होता है।

सुनते हैं, बौद्ध, विद्वान् नागार्जुन ने सुश्रुत का प्रतिसंस्कार किया था। वे सुश्रुतके उत्तर तन्त्र के रचयिता भी माने जाते हैं। नागार्जुन ईसा से पूर्व पहली या दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे। इससे सुश्रुत का काल भी ईसा के पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी मानना चाहिए। ईसा के पाँचवीं शताब्दी में लिखी गई, बावर साहेब की आविष्कृत पुस्तक Bower Manuscript से जाना जाता है कि इस शताब्दी में ही सुश्रुत की बहुत प्रसिद्धि हो चुकी थी और वह बहुत ही प्राचीन ग्रन्थ माना जाता था।

वाग्भट का समय भी अनिश्चित है। हार्नली साहेब का मत है कि वाग्भट दो थे—अष्टाङ्गसङ्ग्रह बनाने वाला वाग्भट पहला और अष्टाङ्गहृदय वाला दूसरा। इसी मत का अनुस्मरण डाक्टर गिरीन्द्रनाथ ने भी किया है जिस श्लोक के आधार पर दो वाग्भट माने गये हैं उसका अर्थ ठीक नहीं किया गया। वह श्लोक अष्टाङ्गहृदय के अन्त में है। यथा—

आष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन
योऽष्टाङ्गसङ्ग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां
प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्॥

इसी की व्याख्या करते हुए गिरीन्द्र बाबू लिखते हैं—

In the Uttarsthan, Bagbhat, the younger, distinctly states that his compendium is based on the compilation of Bagbhata, the elder".
अर्थात् द्वितीय वाग्भट साफ साफ कहता है कि उसने प्रथम वाग्भट के संग्रह के आधार पर अष्टाङ्गहृदय का सङ्कलन किया।

पर श्लोक का अर्थ यह नहीं है। अर्थ यह है कि आयुर्वेद के अष्टाङ्ग-भाग-रूप महासमुद्र को मथ कर आष्टाङ्गसंग्रह रूप से जो महा अमृत मैंने पाया है उसी से सामग्री लेकर मैंने बहु-फल के दाता इस पृथक् ग्रन्थ की रचना अल्प परिश्रम करने वालों की प्रीति के लिए की है।* अतएव दो वाग्भटों की कल्पना निराधार है। दोनों ग्रन्थों का कर्त्ता बौद्ध-धर्मावलम्बी था।

बुद्ध, तथागत अर्हत आदि को उसने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही नमस्कार किया है। अष्टाङ्गसंग्रह की रचना गद्य और पद्य में है,

---

*बंगला लेख के लेखक नियोगी महाशय ने डाक्टर गिरीन्द्रनाथ के किये हुए अर्थ में जो त्रुटि दिखाई वह ठीक है। पर अनल्प का अर्थ "अल्प" नहीं, अल्प का उलटा अर्थात् बहुत का अर्थ है।

अष्टाङ्गहृदय की केवल पद्य में हैं। संग्रह वाग्भट का पहला ग्रन्थ है, हृदय दूसरा। गद्य-भाग याद नहीं रहता। इस कारण वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय की रचना केवल पद्य में की और उसमें अनेक मनोहर छन्दों का प्रयोग किया।

अच्छा तो वाग्भट किस समय हुए? वाग्भट के पिता का नाम सिन्धुगुप्त और जन्मस्थान सिन्धु देश था, पर जन्मकाल का कुछ पता नहीं चलता। हार्नली साहेब कहते हैं कि वाग्भट सातवीं शताब्दि में हुआ। वे बताते हैं कि चीन का इत्सिंग नामक संन्यासी सातवीं शताब्दी में भारत आया था। उसने लिखा है।—"पहले आयुर्वेद-के आठों भाग अलग २ थे। अब (सम्प्रति) एक आदमी ने उन्हें एक ही स्थान पर एकत्र कर दिया है।" इसी "अब" से वे अनुमान करते हैं कि वाग्भट का समय वही था। पर इत्सिंग का बतलाया हुआ व्यक्ति और कोई भी हो सकता है। वाग्भट भी हो सकता है केवल "अब" पर अधिक ज़ोर देना ठीक नहीं। वाग्भट के समय-निरूपण के लिए नीचे लिखे हुए प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) वाग्भट नागार्जुन के पीछे और निदानकार माधव के पहले हुए। माधव ने अपने निदान में अष्टाङ्ग-हृदय से कुछ अंश उद्धृत किया है।

(२) वाग्भट और माधवनिदान का अरबी अनुवाद आठवीं शताब्दी में हुआ। यदि ये प्राचीन और प्रमाणिक ग्रन्थ न होते तो अरबी वाले अपनी भाषा में इस का अनुवाद न करते।

अतएव अनुमानतः माधव पांचवीं या छटी शताब्दी में हुए और वाग्भट उन से सौ वर्ष पहले।

(३) तिब्बत की एक ग्रन्थावली में चरक सुश्रुत और वाग्भट का अनुवाद तिब्बती भाषा में है। यह ग्रन्थावली आठवीं शताब्दी के मध्य काल में बनी थी। चरक और सुश्रुत से वाग्भट बहुत पीछे हुए थे। तथापि पूर्वोक्त ग्रन्थावली के रचनाकाल से वे ४-५ सौ वर्ष पहले अवश्य हुए होंगे। ऐसा न होता तो चरक सुश्रुतके साथ उनके ग्रन्थ को उक्त ग्रन्थावली में स्थान न मिलता। इन प्रमाणों से मालूम होता है कि वाग्भट तीसरी या चौथी शताब्दी में विद्यमान थे।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि ईसासे तीन चार सौ वर्ष पहले और इतने ही समय पीछे तक भारत में शस्त्र-चिकित्सा का खासा प्रचार था। शस्त्र-चिकित्साके विषयमें वाग्भट परवर्ती कोई अच्छे अच्छे ग्रन्थ नहीं मिलते। केवल पिष्टपेषण और टीका-ओंकी टीकायें ही मिलती हैं।

बहुत लोगोंका ख्याल है कि भारतमें प्राचीन समय में आज कल की तरह अस्पताल और औषधालय न थे। औषधालयों और अस्पतालों का अस्तित्व यहां अङ्गरेजों के समय से ही हुआ। कोई कोई उन्हें अरबवालों का आविष्कार बतलाते हैं। पर हमारी समझमें अरब-जाति सेहिन्दू-जाति अधिक पुरानी है। हिन्दुओं में ईसाके पूर्व चौथी पांचवी शताब्दीसे शस्त्र-चिकित्साका ज्ञान मौजूद था। अतएव यह न मानना कि प्राचीन आर्योंने औषधालयों की स्थापन

की थी, ठीक नहीं। सुश्रुतमें स्पष्ट लिखा है कि वैद्यकी 'भेषजागार' में काष्टनिर्मित ताकोंपर औषधियां आदि रखनी चाहिए। चरक संहिता में शुश्रुषागार, सूतिकागार आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन है। इस सम्बन्ध में डाक्टर गिरीन्द्रनाथ ने अपनी पुस्तक में जो कुछ लिखा है वह बड़े ही महत्व का है। उन्होंने औषधालयों और अस्पतालों के अस्तित्व के जो प्रमाण दिये हैं वे अखण्डनीय हैं। राजा अशोक ने तो मनुष्यों ही के लिए नहीं, किन्तु पशुओं तक के लिए स्थान स्थान पर चिकित्सालय स्थापित किये थे। उस समय ये चिकित्सालय "आरोग्यशाला" और " भेषजागार " कहलाते थे। अङ्गरेजी में इन दोनों का अर्थ क्रमशः Hospital और Dispensary के सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

शस्त्र-चिकित्सा करते समय रोगी को मूर्छित करना पड़ता है। मूर्छित करने के लिये सुश्रुत और चरक ने मद्यपान कराना लिखा है। कभी कभी गांजे का धुआं सुंघा कर भी रोगी मूर्छित किया जाता था। राजा भोज की शस्त्र-चिकित्सा का वृत्तान्त भोजप्रबंध में है। वह भी इसी ढंग से मूर्छित करा कर की गई थी। उस सम्मोहनी औषधि का नाम था मोह-चूर्ण।

डाक्टर गिरीन्द्र नाथ ने अपनी पुस्तक में शस्त्र-चिकित्सा के उपयोगी शस्त्रों का खूब वर्णन किया है। आप ने चरक सुश्रुत आदि ग्रंथों के लेखानुसार शस्त्रों के रूपों की कल्पना की है। साथ ही प्राचीन काल के यूनानी चिकित्सा शस्त्रों का

भी कुछ वर्णन किया है। पुस्तक के द्वितीय भाग में शस्त्रादि के कोई ८० चित्र हैं। वे अस्त्र शस्त्र, यन्त्र-उपयन्त्र और बांधनों की पट्टियों [Bandage] आदि के हैं।

शस्त्रादि रूपों की कल्पना में डाक्टर गिरीन्द्र नाथ ने बड़ी सावधानी से काम किया है। उनके यन्त्रों और शस्त्रास्त्रों को देखकर कोई नहीं कह सकता कि ये प्राचीन काल के नहीं हैं। आयुर्वेद में बताई हुई प्रणाली का कहीं परित्याग नहीं किया गया।

अब विचार इस बात का करना है कि भारत से शस्त्र-चिकित्सा का लोप कैसे हुआ। वास्तव में इतनी बड़ी चढ़ी विद्या का नाम शेष हो जाना बहुत ही आश्चर्यजनक है। पर सच पूछा जाय तो यही कहना होगा कि जिस तरह भारत की प्राचीन कलाओं का लोप हो गया उसी तरह उसकी यह विद्या भी नष्ट हो गई।

शस्त्र-चिकित्सा के अवनति के मुख्य कारण ये हो सकते हैं। स्मृतियों में मुर्दों को चीरने फाड़ने का निषेध है।

बौद्ध धर्म का मूलमन्त्र "अहिंसा परमो धर्मः" है। इसी से जान पड़ता है कि इस विद्या की अवनति आरम्भ हुई और जैसे जैसे स्मार्त और बौद्धधर्म का संचार बढ़ा वैसेही वैसे शस्त्र चिकित्सा का ह्रास होता गया। फल यह हुआ कि लोग मुर्दा चीड़ने फाड़ने में घृणा करने लगे। मुसलमानों के

शासन समय में हिन्दुओं के शास्त्रा का जब अनादर शुरू हुआ तब यह विद्या बिलकुल ही विस्मृत हो गई।

इन के सिवा दो कारण और भी हैं। एक तो औषधियों के द्वारा चिकित्सा ज्ञान की उन्नति, दूसरे भारत में मूर्छा लाने योग्य किसी उत्तम औषधि का न होना।

जो कुछ हो, आज से कोई एक हज़ार वर्ष पहिले भारत का चिकित्सा शास्त्र खूब उन्नति पर था। इस में सन्देह नहीं हजारों युद्ध होते थे, लाखों लोग घायल होते थे और मरते थे। क्या उस समय अंगच्छेदन [Amputation] और मरहम-पट्टी आदि का प्रबन्ध न था? ऐसा तो संभव नहीं जान पड़ता। जो ये बातें न होतीं तो सैनिकों की बुरी दशा होती। यह सब अवश्य था। नाई तक देहात में जर्राही करते थे। यह अभी कुछ ही दिन पहिले की बात है।

हम अपने देश के डाक्टरों को सलाह देते हैं कि डाक्टर गिरीन्द्र नाथ की शल्य-चिकित्सा विषयक अंगरेजी पुस्तक को अवश्य पढ़ें *

---

* बंगाल के मासिक पुस्तक "भारतवर्ष" में प्रकाशित श्री पंचानन नियोगी, एम० ए०, के एक लेख से संकलित।

प्राचीन भारत में जहाज़।



वेदों में इस बात के यथेष्ट प्रमाण हैं कि वैदिक युग में भारतवासी आर्य्य व्यापार-वाणिज्य आदि के लिये समुद्र यात्रा करते थे। भारतवासियों ने जहाज़ बनाने का काम विदेशियों से नहीं सीखा। जिस समय अन्य देशों के रहनेवाले असभ्य और वर्बर थे उस समय भारतवासी सभ्यता के ऊंचे शिखर पर पहुंच गये थे। उन्हों ने उसी समय संसार की सारी जातियों के संमुख अपना श्रेष्ठत्व सिद्ध कर दिया था। तरह तरह की व्यापारोपयोगी चीजें नौकाओं और जहाजो द्वारा अपने देश के भिन्न भिन्न स्थानो को पहुंचते थे। साथ ही द्रव्योपार्जन के निमित्त वे समुद्र यात्रा करके विदेशों मे भी पहुँचते थे। वैदिक साहित्य में जहाजों के आने जाने के मार्ग का अनेक प्रकार के समुद्रगामी जहाजो का, समुद्र में पैदा होनेवाली वस्तुओं का, तथा समुद्र-यात्रा और जहाजों के तबाह होने आदि का वर्णन है। इस से स्पष्ट है कि बहुत समय पहले वैदिक युग में भी हिन्दुओं को विदेश की व्यापारोपयोगिनी सब वस्तुओं का पूरा पूरा ज्ञान था। वेदों के अनेक सूक्तों में इस बात के अनेक प्रमाण मौजूद हैं। उदाहरण के लिये नीचे हम एक सूक्त उद्धृत करते हैं :—

अरित्रं वां दिवस्पृथुतीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुस्त्र इन्दवः।"

(ऋग्वेद, तृतीय अध्याय, सूक्त ४६, ऋक ८)

अर्थात—तुम लोगों का आकाश से भी अधिक विस्तीर्ण यान समुद्रके किनारे मौजूद है; भूमि पर रथ मौजूद हैं, साथ ही सोमरस तुम्हारे यज्ञ-कार्य के लिये विद्यमान है। यहां पर "अरित्र" शब्द का अर्थ है—"नाव का डांड़"।

ऋग्वेद (१-११६-५) और वाजसनेयी संहिता में एक सौ पतवारों वाले जलयान (नौका) का वर्णन है। (नौ) अर्थात नौका का उल्लेख अरित्र परण नाम से किया गया है। ऋग्वेद के दो सूक्तों (१-५६-८ और २-१८-१) में "अरित्र" का प्रयोग दूसरे अर्थ में भी किया गया है।

"नौ" शब्द ऋग्वेद-में अन्यत्र भी नौका या जहाज में "नौ" या "नाका" का प्रयोग नदी पार करने ही के लिए किया गया है। यद्यपि गंगा-यमुना के सदृश बड़ी बड़ी नदियां पार करनेके लिए बड़ी बड़ी नावों की जरूरत पड़ती थी, तथापि जहाजों का विशेष प्रयोग न होता था। "नौ" शब्द से लकड़ी की बनी हुई सब प्रकार की नौकायें समझी जाती थीं। विलसन साहेब कहते हैं कि वैदिक युगमें समुद्रगामी जहाजों का विशेष उल्लेख नहीं पाया जाता। यहां तक कि जहाजके मस्तूल और पाल आदि उपकरणों का भी कोई वर्णन नहीं। उस समय जहाजों और नावोंका एकमात्र आधार पतवारही था। किन्तु उनकी यह बात हम किसी प्रकार

स्वीकार नहीं कर सकते ; वैदिक युगमें सामुद्रिक व्यवसाय होता था। उस समय जहाजोंके पाल और मस्तूल आदि का भी अभाव न था। उदाहरण के लिए अथर्व-वेदका ५।१९।८ मन्त्र देखिए। इस मन्त्र में पीड़ित ब्राह्मणों वाले राज्यके नाशकी तुलना एक छिद्र युक्त डूबते हुए जहाजसे की गई है। ऋग्वेद १।५६।२ और ४।५५।६ में भी धन प्राप्तके लिए समुद्र-यात्रा करने वाले मनुष्यों का उल्लेख है। ऋग्वेद में यह भी लिखा है—

"मरता हुआ कोई मनुष्य जिस प्रकार धनका त्याग करता है उसी प्रकार तुग्र-भुज्यु को समुद्र में भेजा था। अश्विद्वय, तुम लोग अपने नौका-समूह पर चढ़ाकर उसे सकुशल लौटा लाये। वह नौका पानी के भीतर चली जाती है, पर उसके भीतर पानी नहीं जा सकता"।

उस समय सौ सौ पतवारों वाले बड़े २ जहाज समुद्र में आते जाते थे—यह बात इस सूक्त से अवश्य ही सिद्ध होती है। वेदों के बहुत से सूक्तों में ऐसी ऐसी बातें पाई जाती हैं। बौधायन-धर्म सूत्र यद्यपि बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं तथापि उसमें बहुत पुरानी बातोंका वर्णन अवश्य है। उसमें भी हम समुद्र-यात्रा के अनेक उदाहरण पाते हैं। ऋग्वेदमें जहाजों और बड़ी २ नावोंसे सम्बन्ध रखने वाले अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेदके जिन मन्त्रों का उल्लेख हमने ऊपर किया है उनसे यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि वैदिक युगमें भारतवर्ष की सौभाग्य-लक्ष्मी उस पर बहुत प्रसन्न थी। भारतवर्ष ने उस समय

समुद्र में जानवाले जहाजों की सहायतासे व्यापार में बहुत उन्नति की थी। वैदिक युग के बादके युगमें हम मनु-संहितामें भी देखते हैं कि उस समय भी भारतवासी देश-देशान्तरों को जाकर वहां व्यवसाय-वाणिज्य करते थे। मनुके चार श्लोकों से तो समुद्रयात्रा का भली भांति प्रतिपादन होता है। इस सम्बन्ध में मनुस्मृति के कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं—

सारासारञ्च भाण्डानां देशानाञ्च गुणागुणान्।
लाभालाभाञ्च पण्यानां पशूनां परिवर्द्धनम्॥
भृत्यानाञ्च भृतिं विद्यात् भाषाश्च विविधा नृणाम्।
द्रव्याणां स्थानयोगाँश्च क्रयविक्रयमे वयः॥

नवम अध्याय—३३१,३३२

समुद्रयान कुशला देशकालार्थ दर्शिनः
स्थापयन्ति तु यां वृत्तिं सा तत्राधिगमं प्रति॥

(अष्टम अध्याय—१५७]

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं ततो भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यान् समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥

(अष्टम अध्याय—४०६)

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तञ्च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमञ्च सम्प्रेक्ष्य वाणिजो दापयेत् करान्॥

(सप्तम् अध्याय— १२०)

पञ्चाशद्भाग आदयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।

धान्यानोमष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥

(सप्तम् अध्याय—१३०)

आददीताथ षड्भागं द्रु-मांस-मधु-सर्पिषाम्

गन्धौषधिरसानाञ्च पुष्पमूलफलस्य च ॥

पत्र शाकतृणानाञ्च वैदलस्य च चर्म्मणाम् ।

मृण्मयानाञ्च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥

(सप्तम् अध्याय—१३१, १३२)

कारुकान् शिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।

एकैकं कारयेत् कर्म्म मासि मासि महीपतिः ॥

(सप्तम् अध्याय—१३८)

रामायण से हमे पता लगता है कि दक्षिण के अधिकांश प्रदेश उस समय बड़े बड़े जङ्गलों से परिपूर्ण थे । रामायण में दक्षिण देश की नदियों और पर्वतों आदि का बहुत वर्णन है । उस से मालूम होता है कि रामायण की जिस समय रचना हुई थी उस समय हिन्दुओं का आवागमन दक्षिण में खूब था । साथ ही उस समय समुद्र के तटवर्त्ती प्रदेशों के साथ उनका वाणिज्य-व्यापार भी था । किष्किन्धा काण्ड के चालीसवें सर्ग में यवद्वीप (जावा) का वर्णन है—

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् ।

सुवर्णरूप्यकं द्वीपं स्वर्णकारमण्डितम् ॥

रामायण के कुछ श्लोकों में समुद्र-यात्रा का विशेष वर्णन है देखिए—

उदीच्याश्च प्रतिच्याश्च दाक्षिणात्याश्च केरलाः
कोङ्क्या, परान्ता, सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ने ॥
(अयोध्याकाण्ड, सर्ग ८३, श्लोक ५४)

समुद्र वगाढांश्च पर्वतान् पत्तनानि च ।
(किष्किन्धा-काण्ड, सर्ग ४० श्लोक २५)

भूमिञ्च कोषकारणां भूमिञ्च रजताकराम ।
(किष्किन्धा-काण्ड, सर्ग ४० श्लोक २३)

तत, समुद्रद्वीपांश्च-सुभीमान् द्रष्टुम् हंत ।
एजान् म्लेच्छान् पुलिन्दांश्च
काम्बोजयवनांश्चैव शकानां पत्तनानि च ।
अन्विष्य वरदांश्चैव हिमवन्त विचिन्वथ ॥
(किष्किन्धा-काण्ड, सर्ग ४३)

इन श्लोकों से स्पष्ट मालूम होता है कि रामायण-युग में शक आदि विदेशी जातियां व्यापार-वाणिज्य से वहुत प्रेम रखती थीं। इनका यह कार्य्य विशेष करके भारतवासियों ही के साथ होता था। वाल्मीकीय रामायण से यवद्वीप सुमात्रा-द्वीप और चीन में हिन्दुओं के आने जाने आदि का पता लगता है।

महाभारत के निम्नोद्धृत श्लोक से मालूम होता है कि पाण्डवों के सबसे छोटे भाई सहदेव ने समुद्र के मध्यवर्ती कितने ही द्वीपों में जाकर वहां के अधिवासी म्लेच्छों को हराया था।

सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन् म्लेच्छयोनिजान् ।
द्वीपं ताम्राह्वयञ्चैव वशे कृत्वा महामतिः ॥

मिताक्षरा से यह सिद्ध होता है कि हिन्दू लोग व्यापार के लिए जहाजों द्वारा दूर दूर तक समुद्र-यात्रा करते थे। समुद्री जहाजों का वर्णन हमें वायुपुराण, हरिवंश, मार्कण्डेयपुराण, भागवतपुराण, हितोपदेश, शकुन्तला, रत्नावली, दशकुमार चरित्र, कथा-सरित्सागर आदि अनेक संस्कृत-ग्रन्थों में मिलता है। कथासरित्सागर में तो अनेक जगह जहाजों का वर्णन है। यह ग्रन्थ ईसा की पांचवीं शताब्दी का है। इस ग्रन्थ के बनने के समय आर्य्य लोग समुद्रगामी जहाजों को बनाना अच्छी तरह जानते थे। यह बात इस ग्रन्थ के पचीसवें तरङ्ग में स्पष्ट लिखी हुई है। इसी ग्रन्थ के पचासवें तरङ्ग में लिखा है कि चित्रकर नामक एक मनुष्य दो श्रमणों (बौद्ध-संन्यासियों) के साथ विस्तृत समुद्र पार करके प्रतिष्ठान-नगर में पहुंचा। वहां शत्रुओं को जीत कर आठ दिन बाद वह मुक्तिपुर-द्वीप में उपस्थित हुआ। पाश्चात्य देश के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्ट्राबो ने लिखा है कि भारतवासी गङ्गा-नदी के मुहाने से समुद्र पार करते थे। वे जहाज-द्वारा दक्षिण-चीन तक जाते थे।

म्याकफर्सन के "एनल्स आव कामर्स" (Macpherson's Annals of Commerce) नामक ग्रन्थ में लिखा है कि भारतवासी अपना वाणिज्य व्यापार बहुत दूर दूर तक करते थे। यहां तक कि मिश्र देश के साथ भी जहाजों द्वारा उनका व्यापार

होता था। प्लीनी नाम का इतिहास लेखक कहता है कि छठी शताब्दी में भारत के व्यापारी समुद्र पार करके फारिस के बन्दरों में पहुंचते थे। "रायल एशियाटिक सोसायटी" के जर्नल का पांचवां भाग पढ़ने से पता लगता है कि फा-हियान नामक प्रसिद्ध चीनी यात्री भारतीय कर्मचारियों द्वारा परिचालित जहाज़ पर बैठकर अपने देश को रवाना हुआ था। उस जहाज़ पर कितने ही ब्राह्मण भी सवार थे।

हम वराहपुराण से समुद्र-यात्रा सम्बन्धी कुछ श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं—

पुनस्तत्रैव गमने वणिगभावे मतिर्गता॥
समुद्रयाने रत्नानि महोस्थौल्यानि साधुभिः
रत्नदरीत्रकैः सार्द्धमानयिष्ये बहूनि च॥
एवं निश्चिचत्य मनसा महासार्थपुरःसरः।
समुद्रयायायिभिर्लोकैः संविदं सूच्य निर्गतः॥
शुकेन सह संप्राप्तो महान्तं लवणार्णवम।
पोतारूढ़ास्ततः सर्वे पोत वारैरुयोपिताः

राजतरङ्गिणी में यह श्लोक मिलता है—

सान्धिविग्रहिकः योऽथ गच्छन तोतच्युतोऽम्बुधौ
प्राय पारं तिमिप्रासात्तिमिनत्याह्ननिर्गन :॥

इन सब श्लोकों से यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि बहुत पुराने समय से भारतवासी नाव, जहाज़ और जलयान का व्योहार करते आते थे।

अब तक हमने केवल अपने ही पुराणों और शास्त्रों आदि से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। इन श्लोकों से यह सिद्ध होता है कि भारतवासी बहुत पहले जमाने से ही जलयानों का व्यवहार करना जानते थे। किन्तु हमें अब यहां कुछ प्रमाण दूसरी सभ्य जातियों के ग्रन्थों से भी देना चाहिए। इन ग्रन्थों और दक्षिण-समुद्र के अनेक उपद्वीपों के पुरावृत्तों में इस विषय के अनेक प्रमाण मिलते हैं।—

Peripls tof the Eiythian Sea (पेरिप्लस आव् दि एरीथियन सी) नामक ग्रन्थ में लिखा है कि अरब, ग्रीक और हिन्दू-व्यापारी सकोठा नामक उपद्वीप में व्यापार के लिए जाते और वहां ठहरते थे। क्राफर्ड नाम के लेखक ने बहुत प्रमाणों-द्वारा सिद्ध किया है कि यवद्वीप (जावा) के प्राचीन निवासी हिन्दू थे। इन लोगों ने १८९ वर्ष पहले बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया था। यवद्वीप में जिस समय बौद्धों का प्रादुर्भाव हुआ उस समय वहां के हिन्दू उसे छोड़ कर निकटवर्त्ती बालीव नामक एक छोटे द्वीप में जा बसे। वे आज तक अपने प्राचीन धर्म्म का पालन करते हुए वहां रहते हैं।

यवद्वीप के रहने वाले हिन्दुओं ने १८०० वर्ष पहले बौद्धधर्म्म स्वीकार किया था। अतएव वे इसके पहले वहां पहुंचे थे, यह बात अवश्य माननी पड़ेगी। लग भग दो हजार वर्ष पहले भारतसे जहाजों द्वारा हिन्दू लोग यवद्वीप पहुंचे और वहां वे बस गये। इस विषय के भी यथेष्ट प्रमाण मौजूद हैं।

इस प्रकार अनेक प्रमाणों द्वारा यह दिखाया जा सकता है कि हिन्दू लोग समुद्र-यात्रा में बड़े प्रवीण थे। रोम के टोसिटसे नामक इतिहासवेत्ता ने हिन्दुओं की समुद्र-यात्रा और उनके व्यापार-वाणिज्य के विषय में कुछ लिखा है उसका अंगरेज़ी-अनुवाद हम नीचे देते हैं—

Pliny, the elder, relates the fact, after Cornelius Nepos, who, in his account of a voyage to the North, says, that in the Consulship of Quintus Metellus Celer, and Lucius Afranius [A. U. C. 694, before Christ 60] Certain Indians who had embarked on the Commercial voyage, were cast on the coast of Germany. and given as a present by the king of the Salvians to Metellus, who was at that time Governor of Gaul. The work of Cornelius Nepos has not come down to us,"and Pliny as it seems, has abridged too much. The whole tract would have furnished a considerable event in the history of Navigation. At present we are left to conjecture whether the Indians adventurers sailed round the Cape of Good Hope. through the Atlantic Oceon, and

thence into the Nothern Seas. or whether they made a voyage still more extraordinary passing the Island of Japan. the coast of Siberia. Kamschtska, Temblain the Frozen Oceon. and thence round Lapland and Norway. either into the Baltic or the German Ocean—Tacitus. translated by Murphy. Philadelphia 1836. P. 606 Note 2.

मद्रास और बम्बई प्रदेश के व्यापारी और नाविक अब भी बिना किसी सङ्कोच के समुद्र-यात्रा करते हैं। यह बात सभी जानते हैं। इन दोनों प्रदेशों के व्यापारी अपने व्यापार-वाणिज्य में कितने प्रवीण हैं; इसका प्रमाण उनका उन्नत व्यापार ही है।

इस सम्बन्ध में प्राचीन काल की नौकाओं और जहाजों के चित्र भी देने का विचार था। पर दुख का विषय है कि प्राचीन काल के जलयानों का चित्र मिलने का कोई साधन नहीं। केवल कहीं कहीं भित्तियों और मन्दिरों में अङ्कित कुछ चित्र मिले हैं।] बुरोबुदेर (जावा) की चित्रावली में सात प्राचीन जहाजों के चित्र हैं। सांची के स्तूपों पर दो जगन्नाथपुरी में एक, भुवनेश्वर में एक और अजन्ता की गुफाओं में पचास चित्र पाये जाते हैं—



प्राचीन भारत में राज्याभिषेक



प्रस्तावना।

इस समय दिल्लीमें आनन्द छाया हुआ है। बड़े बड़े राजे महाराजे इकट्ठा हुए है। देश देशान्तर तकके मनुष्य आये हुए हैं। जिधर देखो उधरही आनन्दकी बधाइयां बज रही है। अनेक भद्र पुरुष सरकार से निमन्त्रित हुए हैं। अनेक स्वयं उत्सव देखने गये हैं। क्यो कि १२ दिसम्बर को स्वर्गीय सम्राट सातम एडवर्ड के पुत्र श्री मान पञ्चम जार्ज का भारत साम्राज्य-सम्बन्धी अभिषेक है। अतएव, प्राचीन भारतमें किस तरह राज्याभिषेक होता था,--यह मैं इस शुभावसर पर बतलाना चाहता हूं।

चुनाव।

प्राचीन नरेश जब राज करते करते वृद्ध हो जाते थे और अपने पुत्रको राजकार्य अच्छी तरह चला सकने योग्य देखते थे तब उसे युवराज बना देते थे और उस पर राज्य का भार देकर स्वयं एकान्त सेवन करते हुए प्रभु भजन में अपना समय व्यतीत किया करते थे। युवराज केवल उन्हीं की इच्छासे नहीं चुना जाता था।

इसके लिए ब्राह्मणोंसे, अधीन मण्डलेश्वरों से, तथा प्रजासे भी सम्मति ली जाती थी। इस विषय में लोकमत का बड़ा आदर किया जाता था। यदि पुत्र राजा बनने योग्य न होता था तो उसका परित्याग कर दिया जाता था, चाहे फिर वह औरस क्यो न हो।

औरसानपि पुत्रान्हि त्यजन्त्यहितकारिणः।
समर्थान् सम्पगृह्णन्ति जनानपि नराधिपः॥

(वाल्मीकि)

जब दशरथ जराजीर्ण हो गये और उन्हों ने राम को युवराज करना चाहा तब उन्हें भी लोकमत लेना प॰ा था। उन्हों ने अनेक नरपालो को बुलवाया, उनका यथेष्ट सत्कार किया, उनके पास बहुमूल्य वस्तु और अलङ्कार आदि भेजे। उनका यथायोग्य सम्मान करके उनसे वे मिले:—

नानानगरवास्तव्यान् पृथगजानपदानपि।
सम्मानिनाम मेदिन्यः प्रधानान्पृथिवीपतीन्॥
तान् वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान्।
ददर्शालंकृतो राजा.......................॥

(वाल्मीकि)

इसके बाद दरबार किया गया। भांति भांति के आसनों पर सब राजा और रईस इस तरकीब से बिठाये गये कि सब के मुख दशरथ की ओर रहे। वहां पर वही महिपाल थे जो लोक-सम्मत थे, और जो वहां आने योग्य थे—

ततः प्रविविशु सर्वे राजानो लोकसम्मताः ।

....

अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च ।

राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः ॥ (वाल्मीकि)

दरवार में नगर के मुख्य निवासी और प्रजाजन भी थे। सब के सामने दशरथ ने प्रस्ताव किया कि अब वृद्ध हूं। राम सुयोग्य हैं। मैं इसे युवराज किया चाहता हूं। यदि मेरी यह सम्मति ठीक है तो आप सब अनुमति दीजिए और जो ठीक न हो तो कहिए मैं क्या करूं ? यह काम मैं पुत्र-प्रीति के वशीभूत होकर कर रहा हूँ, पर यदि यह ठीक न हो तो और कोई राज्य के हित की बात सोचिए:—

यदीदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमंत्रितम् ।

भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥

यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम् ।

(वाल्मीकि)

उपस्थित दरबारियों ने राजा के भाव को समझ लिया। उन्होंने आपस में सलाह की। यह कहा गया कि दशरथ अब वृद्ध हो गये है। इन्हें शान्ति मिलनी चाहिए। राम वास्तव में योग्य हैं। अच्छी तरह विधि पूर्वक उसने विद्या पढ़ी है। सांग वेद जानता है। सज्जन है। मधुरभाषी है। प्रजा के सुख से सुखी होने वाला है। सत्यवादी है। जितेन्द्रिय है। पराक्रमी है। बुद्धिमान है। प्रसन्न मुख है। गांव या नगर के लिये लड़ाई करने जाता है तो

जीत कर ही लौटता है। लौट कर आते समय नगरनिवासियों से आत्मीयजनों की तरह कुशल समाचार पूछता है। मुसकराकर बात करता है। व्यर्थ किसी पर कृपा नहीं करता, और न व्यर्थ किसी पर क्रुद्ध ही होता है। नीतिज्ञ है। धीर है। गम्भीर है। प्रजापालन के तत्वों को खूब जानता है। मोह में फँसने वाला नहीं है। तीनों लोकों को भोगने में समर्थ है। प्रजा के हित के सभी गुण इसमें मौजूद हैं। बड़ों की सेवा करता है। सबको कल्याण का मार्ग बतलाता है। इत्यादि:—

सम्यग्विद्यव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।
सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ॥
प्रजापालनतत्वज्ञो न रागोपहतेन्द्रियः ।
शक्तस्त्रैलोक्यमप्येको भोक्तुं........... ॥
पौरान स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ।
शान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम् ।
गुणैर्विरुरुचे रामः.................. ।

(वाल्मीकि)

अन्त को सब एकमत हुए। उन्होंने दशरथ को सम्मति दी कि महाराज आप वृद्ध हैं। राम का अभिषेक कर दीजिए। हम सब चाहते हैं कि महापराक्रमी राम की महागज पर सवारी निकाली जाय और उस पर छत्र लगाया जाय, इत्यादि:—

ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ।
१४ समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतां गत बुद्धयः ॥

ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ।
अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव ॥
स रामं युवराजनमाभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ।
इच्छामो हि महाबाहु रघुवीरं महाबलम् ।
गर्जेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥

(वाल्मीकि)

प्राचीन भारत मे प्रायः इसी तरह चुनाव हुआ करते थे। और, इस प्रकार का चुनाव होने से सब प्रसन्न रहते थे। कभी किसी को किसी प्रकार की शिकायत का मौका न मिलता था। राजसूय-यज्ञ-यज्ञादि मे जितने मनुष्य निमन्त्रित होते थे उसका सारा खर्च सम्राट की ओर से ही दिया जाता था। उनके रहने, खाने-पीने मनोरञ्जन आदि का सारा प्रबन्ध भी सम्राट के नियत किए हुए सम्बन्धी ही .रते थे। बड़ी धूमधाम से उत्सव किया जाता था सब कोई राजा के मेहमान होते थे।

अभिषेकक्रिया।

इस प्रकार चुनाव हो चुकने पर स्थिर नक्षत्र में योग्य मुहूर्त आने पर, उस भाग्यशाली व्यक्ति को तिल, सरसो के अभिमंत्रित तेल से मालिश कर स्नान कराते थे। एक दिन पहले उसे सस्त्रीक उपवास करना पड़ता था। स्नान करके वह सब प्राणियों को अभयदान देता था। इन्द्र के निमित्त शान्ति की जाती है। इसके बाद फिर सुगन्धित तेल से मर्दन करके वह स्नानागार में

लाया जाता था वहां पर्वत के ऊपर की मिट्टी से उसके सिर को, बांबी की मिट्टी से कानों को, देवस्थान की मिट्टी से मुख को, हाथी के दांतों से खुदी हुई मिट्टी से भुजाओं को, इन्द्र-धनुष के नीचे की मिट्टी से ग्रीवा को, राजाङ्गण की मिट्टी से हृदय को, गंगा-यमुना के संगम की मिट्टी से उदर को, तालाब की मिट्टी से पीठ को नदी-तीर की मिट्टी से पसलियों को, गोशाला की मिट्टी से जंघाओं को गज-शाला की मिट्टी से जानु को, अश्व-शाल की मिट्टी से चरणतलों को मलते थे। तदनन्तर सारी मिट्टियों को मिलाकर समस्त शरीर को मलते थे। इसके बाद उसे सिंहासन पर बैठा कर घी, दूध, दही, शर्करा और मधुमिश्रित पंचामृत से उसका अभिषेक किया जाता था। तदनन्तर सर्वौषधि मिले हुए जल से स्नान कराया जाता था जिन घड़ों से स्नान कराया जाता था वे सोने के होते थे और उनमें सहस्र धारायें होती थीं। पुरोहित अग्न्याधान करके अभिषेक करते थे तीर्थ और समुद्रों से अभिषेक के लिए जल लाया जाता था। जब जलाशयों का पानी भी उसमें रहता था। अभिषेक के समय-मन्त्र पढ़े जाते थे। उनका आशयः—

प्रजापति ने जिस पवित्र जल से सोम, वरुण, इन्द्र मनु को राजा बनाया-अभिषेक किया-था उसी राष्ट्र को बढ़ाने वाली और राष्ट्र को अमर रखने वाली जलधारा से, तुझे राष्ट्रोचित बल के लिए, सम्पत्ति के लिए, यश के लिए और धान्यादि की समृद्धि के लिए मैं अभिषिक्त करता हूँ। तू महाराजाधिराज हो। इत्यादिः—

इमाः आयः शिवतमाः
इमाः राष्ट्रस्य भेषजीः
इमा राष्ट्रस्य वर्द्धिनी,
इमाः राष्ट्रभृतोऽमृतः
याभिरिन्द्रमभ्यषिञ्चत् प्रजापतिः
सोमं राजानं वरुणो यमं मनुं
ताभिरद्भिरभिषिञ्चामि त्वामहं
राज्ञां त्वमधिराजो भवेऽहं
बलाय, श्रियै यशसेऽन्नाद्याय ।
महान्तं त्वा महीनां
समाज चर्षणीनां
देवी जनित्र्यजीजनत्
भद्रा जनित्र्यजीजनत्

इसके बाद वस्त्र धारण की जाती थी। तिलक किया जाता था। भाई-बान्धवों में से योग्य पुरुष छत्र चामर आदि लगाते थे। छत्रपात्र, तैजसपात्र आदि का दान होता था। ब्रह्मभोज होते थे। भांति भांति के दान किये जाते थे। सब लोग नमस्कार करते थेः—

राजाधिराजाय प्रसह्याय साहिने
नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे
समे कामान् कामकामाय मह्यं
कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु

वैश्रमणाय कुवेराय महाराज धिराजाय नमः।

(राज्याभिषेकपद्धतिः)

इसके अनन्तर बड़े ठाठ से हाथी पर सवारी निकलती थी। शहर अच्छी तरह सजाया जाता था। जगह जगह अगर जला कर सुगन्धि की जाती थी। ध्वजा पताकायें और वन्दनवारें लटकाई जाती थीं। झरोखों से स्त्रियां भी सम्राट पर पुष्पों की वर्षा करती थीं:—

हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः।
कीर्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिन्दमः॥

(वाल्मीकि)

भारत में अनेक सम्राट हुए हैं—कोई दुष्टों का नाश करके अपनी भुजा के बल से; कोई प्रजापालन करने की सुन्दर विधि से; और कोई तपोबल से:—

जित्वाजय्यान यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः।
....सम्राजस्त्वनुशुश्रुमा

(महाभारत)

भारत ने सदैव ही वीरों और योग्य व्यक्तियों को हृदय से अपना राजा माना है और उनका यथेच्छ सम्मान भी किया है। यदि कोई राजमद से उन्मत्त होकर अपने कर्तव्य से विमुख हो गया तो वह मारा गया। बहुत दिन तक वह अपने आसन पर नहीं जम सका। भारत सदैव न्याय का पक्षपाती र ा है। आशा है, हमारे नवीन सम्राट भी भारत का शासन न्यायपूर्वक करेंगे।

वर्तमान अभिषेक-क्रियायें प्राचीन क्रियाओं से कहां तक मिलती जुलती हैं उसका मिलान पाठक स्वयमेव कर सकते हैं। क्यों कि वे आक्टोबर की सरस्वती में वर्तमान अभिषेक की क्रिया का हाल पढ़ चुके हैं।



तक्षशिला की कुछ प्राचीन इमारतें।



भारतवर्ष के शतशः नहीं, सहस्रशः कीर्तिस्तम्भ काल की कुक्षि में चले गये हैं। उनका अब कहीं पता नहीं। पुराने खँडहर खोदने से यदि कहीं उनका कोई भग्नांश निकल आता है तो पुराण-वस्तु-विज्ञानी उससे ग्रीस, फारिस, आसिरिया और बैबीलोनिया की बू निकालने लगते हैं। ऐसी कारीगरी उस समय ग्रीस ही में होती थी, अतएव भारतवासियों ने इसे उसी देश के कारीगरों से सीखा होगा। अथवा ऐसे मन्दिर या महल उस युग में फारिस या काबुल में ही बनते थे, इस कारण, हो न हो, यह वहीं का नकल है। वे लोग इसी तरह के तर्कों की उद्भावनायें करने लगते हैं। पहले इस प्रकार के तर्कों का ज़ोर कुछ अधिक था, पर अब कुछ कम हो गया। अब भारतवर्ष की पुरानी सभ्यता और पुराने कला-कौशल के चिन्ह अधिक मिलते जा रहे हैं। इस कारण पुरानी तर्कना की कुछ इमारतें गिरने नहीं तो हिलने जरूर लगी हैं क्योंकि इन चिन्हों से भारतवर्ष की सभ्यता के बहुत पुराने होने के प्रमाण पाये जाते हैं। कुछ नये पुराविदों ने तो इस देश की सभ्यता को लाखों वर्ष की सिद्ध करने के लिये पुस्तकें तक लिख डाली हैं।

यहां के अनेक महल, मन्दिर, स्तूप और गढ़ आदि तो काल खा गया। पर इस विनाश के विषय में विशेष शोक करने की जरूरत नहीं। क्योंकि जीर्ण होने पर सभी वस्तुओं का नाश अवश्यम्भावी है। परंतु जो इमारतें धर्म्मान्धों और बर्बर विदेशियों ने धर्मान्धता अथवा उत्पीडन की प्रेरणा से ही नष्ट कर दीं उनके असमय-नाश का विचार करके अवश्य ही शोक होता है। प्राचीन काल में तक्षशिला नामक नगरी बड़ी उन्नत अवस्था में थी। वह लक्ष्मी की लीला-भूमि थी। वह विद्वानों का विहार स्थल थी। बड़े बड़े प्रतापी नरेशों की प्रभुता-निकेतन थी। उसका आयतन बहुत विस्तृत था। कई नये नये नगर वहाँ बस गये थे। कई पुराने नगर उजड़ गये थे। चिन्हों से जान पड़ता है कि ईसा के पांचवें शतक तक तक्षशिला-नगरी विद्यमान थी। तब तक भी वहाँ अनेक अभ्रंकश प्रसाद, स्तूप, विहार आदि उस के वैभव की घोषणा उच्च स्वर से कर रहे थे। अकस्मात उस पर हूणों ने चढ़ाई कर दी। वहां के तत्कालीन अधीश्वर की हार हुई। विजयी हूणों ने उसे खुब लूटा। पर इतने से भी उनकी तृप्ति न हुई। उन्होंने उसे जला कर खाक ही कर दिया। जो अंश खाक हो जाने से बचा वह उजड़ गया। उस पर जङ्गल उग आया। धीरे २ भग्नांश पृथ्वी के पेट के भीतर दब गये।।

आरकियालाजीकल महकमें ने अब तक्षशिला के खँडहर खोद कर उन टूटी-फूटी इमारतों को बाहर निकालना शुरू किया है। यह काम कई सालों से जारी है। और अब तक जो भग्नांश

खोद निकाले गये हैं और उनसे जो जो चीजें प्राप्त हुई हैं उनका वर्णन इस महकमें के सचित्र सालाना रिपोर्ट में हो चुका है। उनका दिग्दर्शन सरस्वती में प्रकाशित कई नोटों में भी किया जा चुका है। अब इस महकमे में अध्यक्ष, सरजान मार्शल, ने प्रत्येक भग्नांश का विवरण पृथक पृथक पुस्तकमे प्रकाशित करने को क्रम जारी किया है। इससे यह सुभीता होगा कि प्रत्येक स्थान विशेष का वर्णन एकही जगह मिल जायगा। तक्षशिला की खुदाई से अब तक जो ऐतिहासिक पदार्थ-मूर्तियां, स्तूप, औजार, व्यावहारिक वस्तुयें, सिक्के आदि-निकले हैं उन. पर, साधारण तौर पर, एक अलग पुस्तक भी प्रकाशित की गई है। उसका नाम—A guide to Taxila इस में तक्षशिला की खोद--निकाली गई इमारतों का भी वर्णन है।

प्राचीन तक्षशिला के खंडहर की सीमा के भीतर एक जगह जौलियां (Jaulian) नाम की है। उसे खोदने से जो इमारतें और जो पदार्थ निकलते हैं उनका विवरण, एक अलग पुस्तक में, अभी हाल ही में, प्रकाशित हुआ है। वह अँगरेज़ी में है और सचित्र है—

Excavations at Taxila—The Stupas and Monasteries at Jaulian. इसका भी प्रकाशन सर जान मार्शल नेही किया है। इसका अधिकांश उन्हीं का लिखा हुआभी है। अल्पांश के लेखक और कई महाशय हैं। पुस्तक में छोटे बड़े अनेक चित्र हैं।

जौलियाँ में, जहां खुदाई हुई है वहाँ, कोई डेढ़ हजार वर्ष पहले बौद्धोंके कितने ही स्तूप, विहार और चैत्य आदि थे। ये सब एक ऊँची जगह, पहाड़ों पर थे। खोदने पर इन इमारतों में आग लग कर गिर जानेके चिह्न पाये गये हैं। ईसाके पाँचवीं सदी में तक्षशिला और उसके आस पास के प्रान्त पर हूणों के धावे हुए थे। उन्होंने उस प्रान्त का विध्वंस-साधन किया था। बहुत सम्भव है, उन्होंने जलाकर इन इमारतों का नाश किया हो।

खोदने से इन खंडहरों में एक बहुत बड़े स्तूप का खण्डांश निकला है। छोटे २ स्तूप तो बहुत से निकले हैं। यहीं, स्तूपों के पास, बौद्ध भिक्षुओं के रहने की जगह भी थी। एक एक विस्तृत विहार था, जिसमें पचास साठ भिक्षुओं के रहने के लिए अलग कमरे थे। यह दो मंजिला था।

खोदने से, जौलियाँ में बुद्ध बोधिसत्वों की बहुत सी मूर्तियां अखण्डित हैं और बड़ा विशाल हैं। स्तूपों के चारो ओर, कई कई कनारों में मिट्टी और चूने के पलस्तर की और भी सैकड़ों मूर्तियां पाई गई हैं। वे बुद्ध, बोधिसत्वों, भिक्षुओं, उपसिकाओं, देवों और यक्षों आदि की हैं। इन सबकी वेश-भूषा, आदि देख कर उस समय के वस्त्राच्छादन और सामाजिक व्यवस्था का सच्चा हाल मालूम हो सकता है। पुरुषों के उष्णीष और अङ्ग-वस्त्र, स्त्रियों के सलूके और कर्ण-कुण्डल, तथा देवों और यक्षों के कुतूहल-जनक आकार-प्रकार और भावभंगियां बड़ी योग्यता से मूर्तियों में दिखाई गई हैं। उस समय के भारतवासियों ने निन

हूणों को म्लेच्छ संज्ञा दे रखी थी उनकी भी मूर्तियां मिली हैं। जिन धार्म्मिक बौद्धों ने अपने अपने नाम से स्तूप बनवाये थे उनके खुदवाये हुए, खरोष्ठी लिपि में कई अभिलेख भी यहां मिले हैं। वे कुछ कुछ इस प्रकार के हैं।

"बुद्धरक्खितस भिक्षुस दुनमुखो"

अर्थात् भिक्षु बुद्धरक्षित का दान किया हुआ है।

पुरातत्त्वज्ञों का अनुमान था कि ३०० ईसवी में ही खरोष्ठी लिपि का रवाज भारत से उठ गया था। पर यह बात इन अभिलेखों से ग़लत साबित हो गई, क्योंकि वे चौथी या पांचवीं सदी की हैं। इससे ज्ञान हुआ कि और भी सौ दो सौ वर्ष तक इस लिपि का रवाज भारत के पश्चिमोत्तर भाग में था।

खोदने से यहां अनेक प्राचीन सिक्के, मिट्टी के वर्तन और तांबे के अरघे, चमचे, जंजीर और कील-कांटे आदि निकले हैं। सोने की भी कुछ चीजें, प्राप्त हुई हैं। मिट्टी के एक वर्तन के भीतर एक अधजली पुस्तक भी मिली है। बौद्धधर्म्म-विषय की कोई ग्रन्थ मालूम होता है। प्रातः वसन्त-तिलकवृत्त में है। खेद है, इसका एक पृष्ठ भी पूर्ण नहीं। स्तूपों में अस्थि भस्म भी मिली है। मालूम होता है कितने ही छोटे छोटे स्तूपों के भीतर अस्थि-भस्म रक्खी गई थी क्योंकि रखने की जगह तो बनी हुई है, पर अस्थिगर्भ डिब्बे या बक्स नहीं मिले। वे या तो नष्ट हो गये या निकाल लिये गये। स्तूप नम्बर ११ में एक छत्रगीदार, ३ फुट ८ इंच ऊंची, विचित्र बनावट की एक चीज मिली है। वह पलस्तर

की है और स्तूपाकार है। उस पर नीला और सुर्ख रंग है। ऊपर कई प्रकार के पत्थर, जिनमें से कुछ रत्न-सदृश भी हैं, जड़े हुए हैं। जिस कोठरी के भीतर यह चीज़ मिली है वह साढ़े दस इंच चौकोर और २ फुट साढ़े आठ इंच ऊंची है। इस स्तूपाकार वस्तु के भीतर लकड़ी की एक छोटी सी डिबिया थी। वह सड़ी मिली है। उसमें मूंगा, सुवर्ण, हाथी दांत, बिल्लौर के मनके आदि थे। उसके भी भीतर धातु की एक छोटी सी डिबिया थी। उस डिबिया के भी भीतर एक और डिबिया थी। उसमें काली काली ज़रा सी राख थी। यह राख किसी की अस्थियों की अवशिष्ट भस्म के सिवा और क्या हो सकता है।

यदि भारत के प्राचीन खँडहरों की खुदाई के लिए गवर्नमेंट कुछ अधिक रुपया खर्च करती और यह काम कुछ अधिक झपाटे से होता तो दस ही पांच सालों में अनेक खंडहर खुद जाते और उनसे निकली हुई वस्तुओं और इमारतों के आधार पर प्राचीन भारत का इतिहास लिखने में बहुत सुभीता होता। परन्तु अभाग्य वश, वह दिन अभी दूर मालूम होता है।



पुरातत्त्व का पूर्वेतिहास



गुजरात की पुरातत्त्व-ग्रन्थावली के तीसरे ग्रन्थांक में इस देश के पुरातत्त्व के इतिहास पर जो लेख प्रकाशित हुआ है उसका सारांश नीचे दिया जाता है। पुरातत्त्व संस्कृत-शब्द है। वह अंगरेजी शब्द Antiquities के अर्थ में व्यवहृत होता है। पुरानी वस्तुओं का तत्त्व जानना, उनकी रक्षा करना, उनके विषय में गवेषणा करना, उनके सम्बन्ध की भूलों और भ्रमों का निरसन करना आदि इस शास्त्र के जानने वालों का काम है।

प्राणियों में मनुष्य ही सब से श्रेष्ठ है, क्योंकि उसी में सब से अधिक ज्ञान का विकास पाया जाता है। जिसमें ज्ञान की मात्रा जितनी ही कम है वह मनुष्य उतना ही अधिक पशुत्व की ओर झुका हुआ समझा जाता है। इसी तरह, जिसमें उसकी मात्रा अधिक हो वह उतना ही अधिक ईश्वरत्व अथवा सर्वज्ञत्व की ओर झुका हुआ समझा जाता है। कोई मनुष्य आज तक सर्वज्ञ हुआ है या नहीं, इसका तो पता नहीं, परन्तु, हां ज्ञान के न्यूनाधिकत्व के अनुसार किसी में अल्पज्ञता और किसी में बहुज्ञता जरूर ही पाई जाती है।

संसार में आज तक असंख्य ज्ञानवान मनुष्य उत्पन्न हो चुके हैं। वे सब अपनी अपनी ज्ञान-शक्ति के अनुसार ज्ञानमूल

के वस्तुओं के रूप में न मालूम कितनी मिलकियत छोड़ गये हैं। इन सबका मिश्रित ज्ञान-भाण्डार इतना है जिसकी थाह नहीं। तथापि, फिर भी, कोई मनुष्य यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि जानने योग्य सभी बातें जान ली गई हैं। सच तो यह है कि यह सृष्टि अब तक भी प्रायः अज्ञेय या अज्ञात वस्तुओं से ही अधिकतर भरी पड़ी है। इस जगत् के विषय में प्राचीन ऋषि जैसे कहते थे—

को ददर्श प्रथमं जायमानम्

अथवा, को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्

कुत आ जाताः कुत इयं विसृष्टि

वैसे ही आज कल के भी—इस बीसवीं शताब्दी के भी—ज्ञानी पुरुष कहते हैं। इस विषय में न पुराने ज्ञानियों ही को सफलता हुई और न आज-कल के नवीनों ही को। बात पूर्ववत् ही अज्ञात है। इसी से ज्ञान-सम्पादन की जिज्ञासा ज्योंकी त्यों बनी हुई है।

श्रम, खोज, विचार आदिकी सहायता से ज्ञान-वृद्धि जरूर हो रही है। एक समय वह था जब आकाश में सहसा मेघमँडराने आँधी आते और जङ्गलोंमें आग लग जाते देख वैदिक ऋषियों को आश्चर्य होता था। वे भयभीत हो उठते थे और प्राकृतिक घटनाओं को दैवी कोप समझ कर उनसे परित्राण पानेके लिए इन्द्र, अग्नि, वायु आदि की शरण जाते थे। पर जैसे ही जैसे वे विश्व-रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने पाये वैसे ही वैसे यथार्थ बात उन्

ा समझ में आती गई; उनका भय दूर होता गया; पानी बरस ा, हवा ज़ोर से चलने और आग लग जाने का यथार्थ कारण वे जानते गये।

इस तरह का ज्ञान-समूह अनन्त काल से सञ्चित होता चला आ रहा है। इसके सञ्चय का कोशही इतिहास है। इन्द्रियों के द्वारा मनुष्य केवल अपने समय का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, भूत-भविष्यत् का नहीं। जो ज्ञान इन्द्रिया-तीत है उसकी प्राप्ति वह नहीं कर सकता। संसर्ग और अनुभव के अधीन ज्ञानकी प्राप्ति उसे यदि हो सकती है तो इतिहास ही की बदौलत हो सकती है। समय समयका ज्ञान यदि इतिहास-बद्ध होता चला गया तो वह सब एकत्र रहता है और आगे की पीढ़ियों के काम आता है।

दुखकी बात है कि हमारे पूर्वजों का रचा हुआ सच्चा और विस्तृत इतिहास उपलब्ध नहीं। अपने देश के ज्ञान-समूह का सञ्चय उन्होंने इतिहास-मञ्जूषा के भीतर नहीं बन्द किया और यदि किया भी तो उस का कहीं भी अस्तित्व नहीं पाया जाता। दूरकी बातें जाने दीजिए, सौ दो सौ वर्ष पहले की भी घटनाओं की यथार्थ वृत्तान्त प्राप्त नहीं। और कहां तक कहें जिसके संवत् का उल्लेख हम लोग प्रतिदिन संकल्प में करते हैं उस तकके विषय में निश्चय पूर्वक हम यह नहीं कह सकते कि वह कौन था, कब हुआ और क्या क्या काम उसने किया।

हमारे इस दुर्भाग्य का भी भला कहीं ठिकाना। भोजप्रबन्ध आदि के ढंग की जो पुस्तकें मिलती हैं वे इतिहास नहीं। भोजप्रबन्ध में कालिदास, बाण, माघ आदि कवि भोज के समकालीन बनाये गये हैं, यद्यपि वे उसके सैकड़ों वर्ष पहले हो चुके थे।

यद्यपि हमारे पूर्वजों का लिखा हुआ यथार्थ इतिहास उपलब्ध नहीं तथापि उनकी निर्म्माण की हुई ऐसी अनन्त सामग्री विद्यमान है जिसकी सहायता से हम प्राचीन समय की घटनाओं का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उस समय के इतिहास की रचना भी कर सकते हैं। यह सामग्री प्राचीन ग्रन्थ, शिलालेख ताम्रपत्र, कीर्तिस्तम्भ, सिक्के, मन्दिर, स्तूप, क़िले, प्रासाद आदि के रूप में विद्यमान हैं। परन्तु इतिहास के महत्व से अनभिज्ञ होने के कारण हम लोगों ने इस सामग्री से भी लाभ नहीं उठाया—अपने आप इतिहास-रचना का सूत्रपात तक नहीं किया। भारत के प्राचीन इतिहास के निर्म्माण का पाठ हमें पढ़ाया है सात समुद्र पार होने वाले पश्चिमी देशों के निवासियों ने। इन्होंने उसका पाठ ही हमें नहीं पढ़ाया, इतिहास का कुछ अंश स्वयं ही निर्म्माण करके हमारे सामने रख भी दिया है। इसके आरम्भ का श्रेय इंगलिस्तान की निवासिनी अंगरेज-जाति को है। अतएव इस विषय में हम लोग उनके कृतज्ञ हैं।

जिज्ञासा मनुष्य की स्वाभाविक सम्पत्ति है। जो मनुष्य जितना ही अधिक बुद्धिमान् होता है उसमें उतनी ही अधिक जिज्ञासा होती है। जब वह किसी अपरिचित देश अपरिचित

मनुष्य-समाज में पहुंच जाता है तब उसकी ज्ञान-प्राप्ति की पिपासा और भी प्रबल हो उठती है। उसके हृदय में उस समय इस तरह के प्रश्न उठते हैं—जिन नये मनुष्यों के बीच में मैं आ पड़ा हूँ उनका धर्म्म क्या है? उनकी भाषा कैसी है? उनकी रीति-रस्म कैसी है? उनके पूर्वजों की दशा कैसी थी? इत्यादि-

अतएव वह उनकी लिपि, उनकी राजनीति, उनकी समाज-नीति, उनकी कला-कुशलता आदि से परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करता है; और धीरे धीरे उनके धर्म्म,समाज और इतिहास आदि विषयों का ज्ञान-सम्पादन करने में लग जाता है। पहले पहल व्यापार करने और तदनन्तर भारत में अपना राज-चक्र चलाने के लिए आये हुए अंगरेजों ने; इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर, इस देश के इतिहास के खोज का पराक्रम किया था।

पलासी के युद्ध के बाद अंगरेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्राबल्य इस देश में बढ़ने लगा। १७७४ ईसवी में उसने बङ्गाल के तत्कालीन नवाब को पदच्युत करके उस प्रान्त के शासन का सूत्र, अपना गवर्नर जनरल नियत करके, उसके हाथ में दे दिया। अतएव अंगरेज कर्मचारियों की संख्यावृद्धि होने लगी। कर्म्मचारियों में कितने ही विद्वान और सुशिक्षित थे। उन्होंने पहले पहल भारत के पुरावृत्त के निर्म्माण का भी गणेश किया। पीछे से तो फ्रांस, जर्मनी और आस्ट्रिया आदि देशों के निवासियों ने भी इस काम में हाथ लगाया और अङ्गरेजों की अपेक्षा उन्हीं लोगों ने भारतीय इतिहास

का अधिक उद्धार किया। परन्तु काम का आरम्भ ईस्ट इंडिया क़म्पनी के अंगरेज-कर्म्मचारियों ही ने किया और उसकी सफलता के बहुत कुछ साधन भी उन्हीं लोगों ने प्रस्तुत किया।

सर विलियम जोन्स पहले अंगरेज थे जिन्होंने संस्कृत-भाषा का ज्ञान-सम्पादन किया। इस काम में उन्हें बड़ी बड़ी बाधाओं का सामना करना पड़ा। पंडितों की दृष्टि में वे म्लेच्छ थे। म्लेच्छ का संस्कृत पढ़ा कर भला कौन धर्म्म-भीरु पंडित अपनी धर्म-हानि करेगा? परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ होने के कारण, सभी आगत विघ्नों के पार जाकर, जोन्स साहेब ने काफी संस्कृत-ज्ञान प्राप्त कर लिया। संस्कृत सीख कर उन्होंने शकुन्तला-नाटक और मनुस्मृति का अनुवाद अंगरेजी में प्रकाशित किया, उन्हें देख कर योरप के विद्वानों में खलबली मच गई। उन्होंने कहा, जिस जाति के ज्ञानभण्डार में ऐसी ऐसी पुस्तकें विद्यमान हैं उसका भूतकाल बड़ा ही उज्ज्वल रहा होगा, उसमें ऐसे ऐसे न मालूम और कितने ग्रन्थ-रत्न पड़े होंगे, अतएव इस जाति के पूर्वोतिहास से परिचय प्राप्त करने से अनेक लाभ होने की सम्भावना है।

इस प्रकार की सम्भावना से प्रेरित होकर कई अंगरेज इस देश के पुराने ग्रन्थों का पता लगाना और उनके अनुशीलन में प्रवृत्त हो गये। इस प्रवृत्ति इस ज्ञान-लिप्सा—का फल यह हुआ कि सर विलियम जोन्स ने, तत्कालीन गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्ज की सहायता से, कलकत्ते में, १५ जनवरी १७८४ को,

एशियाटिक सोसायटी नाम की एक संख्या की संस्थापना की। इस संस्था ने एशिया खण्ड के इतिहास, साहित्य, स्थापत्य, धर्म्म समाज और विज्ञान आदि विषयों के सम्बन्ध में खोज करना उद्देश निश्चित किया। बस, इस सभा की स्थापना के साथ ही भारतवर्ष के इतिहास अर्थात् पुरातत्व के अन्वेषण का शुभ काम आरम्भ हुआ। परन्तु इस कार्य्यारम्भ के पहले ही सैकड़ों प्राचीन इमारतें नष्ट भ्रष्ट हो गईं। सैकड़ों शिला-लेखों की सिलें और लोढ़े बन गये, सैकड़ों शिलालेख मकानों की दीवारों में चुन दिये गये, सैकड़ो दानपत्रों के ताम्रफलक गला कर घड़े लोटे तथा और बर्तन बना डाले गये। प्राचीनग्रन्थ कितने गले, कितने कीट भक्ष बने कितने पंसारियों की दुकानो में पहुँचे, उसका तो कुछ ही नहीं। खैर, भारत के सौभाग्य से इस नई संस्थापित संस्था ने इन पुरानी वस्तुओं की रक्षा का सूत्रपात्र कर दिया।

सर विलियम जोन्स के अनन्तर चार्ल्स विलकिन्स ने संस्कृत भाषा सीखी। उन्ही के प्रयत्न से देवनागरी और बंगला-टाइप तैयार हुआ। उन्होंने कुछ पुराने लेख भी ढूंढ़ निकाले और उन पर विवेचनापूर्ण नोट भी लिखे। भगवद्गीता का अंगरेजी-अनुवाद भी उन्होंने किया।

एशियाटिक सोसायटी ने एशियाटिक रीसर्चेज नाम की एक पुस्तक-माला निकालना आरम्भ किया। १७८८ से १७९७ ईसवी तक इस मालाके ५ भाग निकले। जो भिन्न भिन्न विद्वान् भिन्न भिन्न पुरातत्त्व-विषयों के अध्ययन में लगे हुए थे उनके लेख

इसी माला में निकलते रहे। इसकी बड़ी कदर हुई। इसके कई संस्करण इँगलैंड में भी निकले। एक फ़रासीसी विद्वान् ने इनका अनुवाद अपनी भाषामें प्रकाशित किया। इस प्रकार भारतीय पुरातत्व के सम्बन्ध में योरपवालों ने भी योगदान आरम्भ कर दिया। नये नये पुरातत्त्वज्ञ पैदा हो गये और यह काम झपाटे से होने लगा।

सर विलियम जोन्स की मृतु के बाद, १७९४ में, उसका स्थान हेनरी कोलब्रुक ने ग्रहण किया। वे भी अच्छे संस्कृतज्ञ थे। उन्होंने इस देश के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ और लेख लिखे। हिन्दुओं के धार्म्मिक रीति-रवाज, भारतीय वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति, "संस्कृत और प्राकृत-भाषा" "संस्कृत और प्राकृत-छन्द शास्त्र" आदि बड़े ही महत्व-पूर्ण लेख उन्होंने प्रकाशित किये। वेद, सांख्य, मीमांसा, न्याय वैशेषिक, वेदान्त, कृषि, वाणिज्य, समाज-व्यवस्था, कानून, धर्म्म, गणित, ज्योतिष इत्यादि अनेक विषयों पर भी बड़े ही गवेषणा-पूर्ण लेख उन्होंने लिखे। इन लेखों में निर्दिष्ट बातों और सिद्धान्तों को उनके परवर्ती विद्वान् आज तक सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। कोलब्रुक ने देहली के स्तम्भ पर उत्कीर्ण-विशालदेव की संस्कृत-प्रशस्ति का भी अनुवाद अंगरेजी में किया। १८०७ ईसवी में एशियाटिक सोसायटी के सभापति हुए और उसी साल उन्होंने भारतीय ज्योतिष और खगोल-विद्या पर एक गहन ग्रन्थ प्रकाशित किया। भारत से चले जाने पर उन्होंने इंगलैंड में रायल एशियाटिक सोसायटी

की स्थापना की और संस्कृत भाषा सीखने तथा भारतीय पुरातत्व का ज्ञान-सम्पादन करने के विषय में लोगों को ऐसा चसका लगा दिया कि दिन पर दिन नये नये संस्कृतज्ञ और पुरातत्वज्ञ पैदा होने लगे। यदि कोलब्रुक के सदृश प्रकाण्ड पण्डित इस ओर इतना ध्यान न देते तो योरप में संस्कृत-भाषा का इतना प्रचार शायद ही होता।

कोलब्रुक साहेब के साथ साथ ही भारत में अन्य अंगरेज भी पुरातत्व-विषयक काम में लग गये थे। डाक्टर बुकनन ने मैसूर-प्रान्त में, वहां के प्राचीन पदार्थों के विषय में, बहुत कुछ ज्ञान-सम्पादन किया। इस बात से सन्तुष्ट होकर ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने, १८०७ ईसवी में, उनको एक विशिष्ट पद पर नियुक्त किया। उस पर रह कर उन्होंने, बङ्गाल, आसाम और बिहार के कितने ही जिलों में दौरे करके वहां के पुरातत्व की खोज की और अनेक अज्ञात ऐतिहासिक बातों का पता लगाया। इधर पश्चिमी भारत मे साल्ट साहेब ने केनरी-गुफाओं का और रस्किनसाहेब ने हाथी-गुफाओं (Alephant Caves) का वृत्तान्त लिखा। ये वर्णन बाम्बे ट्रैंक्शन (Bombay Transaction) नाम की पुस्तक के पहले भाग में प्रकाशित किये गये। इसी पुस्तक के तीसरे भाग में साइक्स साहेब का लिखा हुआ बीजापुर का ऐतिहासिक वर्णन प्रकट हुआ। दक्षिणी भारतवर्ष के पुरातत्व के वर्णन तो कई विद्वानों ने प्रकाशित किये। इस काम का आरम्भ टामस डानियल ने किया। कर्नल मेकंज़ी ने सैंकड़ों प्राचीन

ग्रन्थ और शिलालेख ढूंढ़ ढूंढ़ कर एकत्र किये। राजपूताने और महत्-भारत की पुरानी बातों को खोज निकालने में कर्नल टाड ने बड़ा नाम पाया।

इस प्रकार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत में, पुरातत्व-विषयक ज्ञान और सामग्री प्राप्त करने में, कितने ही विद्वान् लग गये। उनके लेखों और ग्रन्थों के प्रकाशन से अनेक अज्ञात और विस्मृत वस्तुओं के ज्ञान का उद्धार हुआ।

इस प्रणाली से थोड़ा-बहुत काम तो अवश्य हुआ, पर पुराने शिलालेख और ताम्रपत्र आदि, जो अब तक मिले थे, वैसे ही बिना पढ़े पड़े थे। क्योंकि उनकी लिपि पुरानी होने के कारण पढ़ी नहीं जा सकती थी। जिस लिपि को हम देवनागरी कहते हैं वह विकसित लिपि है। वह तीन रूपान्तर प्राप्त करने के अनन्तर अपने वर्त्तमान रूप में आई है। उसका पहला रूप ब्राह्मी कहाता है। वह सन् ईसवी के ५०० वर्ष पहले से लेकर प्रायः ३५० ईसवी तक पाया जाता है। इसके अनन्तर उसे जो रूप मिला वह गुप्त-लिपि के नाम से अभिहित है वह विशेष करके गुप्तवंशी नरेशों के शासन-समयमें—अर्थात् सन् ईसवी के पांचवें शतक तक-प्रचलित थी। उसके बाद का उसका विकसित रूप कुटिल-लिपि के नाम से उल्लिखित है। उसका प्रचार ईसा के छठे से लेकर दसवें शतक तक माना जाता है। इससे पाठकों को ज्ञान हो जायगा कि हमारी वर्तमान देवनागरी लिपि के पुराने तीनों रूपों से परिचित हुए बिना पुराने ग्रन्थों और

उत्कीर्ण लेखों का पढ़ा जाना असम्भव है। ये रूप धीरे धीरे दुर्बोधता से सुबोधता की ओर पहुँचते गये हैं। जो लिपि जितनी ही अधिक पुरानी है, अपरिचित होने के कारण, वह उतनी ही दुर्वोध भी है।

पहले पहल चार्ल्स विलकिन्स ने पुरानी लिपि में लिखे गये अर्थात् उत्कीर्ण लेख पढ़ने की चेष्टा की। दीनाजपुर जिले में एक स्तम्भ के ऊपर खुदे हुए, राजा नारायणपाल के समय के, एक लेख का उद्धार उन्होंने, १७८५ ईसवी में, किया। पण्डित राधाकान्त शर्म्मा ने देहली के अशोक—स्तम्भ के ऊपर उत्कीर्ण ३ लेख पढ़े। ये लेख चौहान राजा वीसलदेव के थे। इनमें से एक समय—"संवत १२२० वैशाखी सुदी ५" ज्ञात हुआ। जे० एच० हैरिंग्टन ने भी कई पुराने लेखों को पढ़ा।

इन सब की लिपि बहुत पुरानी थी। इस से ये लेख थोड़े ही परिश्रम और मनोयोग से पढ़ लिए गये। विशेष कठिन लिपि है गुप्तकालीन देवनागरी। चार्ल्स विलकिन्स ने उनको पढ़ने के लिए कोई चार वर्ष तक परिश्रम किया। अन्त में उन्हों ने इस लिपि की प्रायः आधी वर्णमाला से परिचय प्राप्त कर लिया। उधर और लोग भी पुरानी लिपियां पढ़ने की चेष्टा में सतत लगे हुए थे। उनमें से कर्नल जेम्स टाड, मिस्टर बी० जी० बैबिंग्टन, वाल्टर इलियट, कैप्टन टायर, डाक्टर मिल, डब्लू० एच० वाथ के नाम सबसे अधिक उल्लेख-योग्य हैं। किसी ने राजपूताने के कुछ पुराने लेख पढ़े, किसी ने वल्लभी के, किसी

ने प्रयाग के, किसी ने और प्रान्तों के। वैबिंग्टन और इलियट ने प्राचीन तामील और कानडो लिपियों की वर्णमालाओं का अधिकांश ज्ञान-सम्पादन करके ,उन लिपियों में उत्कीर्ण कितने ही शिलालेख पढ़ डाले। इस प्रकार १८५३ ईसवी तक बहुत से पुराने लेखों का उद्धार हो गया। इस काम में जेम्स प्रिंसप नाम के एक विद्वान ने बड़ा काम किया। उन्हों ने देहली, कमाऊँ और एरण के स्तम्भों के ऊपर के, साँची और अमरावती के स्तभों के ऊपर के, और गिरनार पर्वत के ऊपर के अनेक लेख पढ़ डाले और उनके अनुवाद भी, विवेचना-सहिता प्रकाशित कर दिये। सो इन अनेक विद्वानों के सतत परिश्रम का फल यह हुआ कि गुप्त कालीन लिपि का सारा भेद खुल गया। वह हस्तामलकवत हो गई। उसमें उत्कीर्ण लेख अच्छी तरह पढ़ लिये जाने लगे। रहे कुटिल-लिपि में लिखे गये या उत्कीर्ण ग्रन्थ और शिलालेख आदि सो यह लिपि वर्तमान लिपि से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इसमें अनेक पढ़े जाने में विशेष कठिनता न हुई। वे तो सहज ही पढ़ लिये गये।

पुरातत्त्वज्ञ विद्वानों ने जब कुटिल और गुप्त लिपि को आपत्त कर लिया तब सन् ईसवी के चौथे शतक के उत्तरार्द्ध से लेकर दसवें शतक तक के प्राचीन भारत के इतिहास का बहुत कुछ अंश अँधेरे से उजेले में आने लगा। सैकड़ों शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्के पढ़े जाने और उन पर विवरणात्मक लेख प्रकाशित होने लगे जिन अनेक प्राचीन राजाओं और राजवंशो के नाम

तक न सुन गये थे उनके ऐतिहासिक वृत्तान्त प्रकाशित होने लगे।

परन्तु भारत के सबसे पुरानी ब्राह्मी लिपि को तब तक भी कोई न पढ़ सका था। इस लिपि में खुदे लेख १७९५ ईसवीं में ही मिल चुके थे। पर इनमें क्या है, यह कोई नहीं बता सकता। उनमें से कुछ की नकल मेजर विलफर्ड को भेजी गई। वे उस समय काशी में थे और काशी ठहरी पण्डित-राजाओं की खानी। ख़याल यह हुआ कि यहां कोई न कोई पण्डित उन्हें जरूर पढ़ लेगा। और भगवती अन्नपूर्णा के कृपाकटाक्ष से वहां एक पढ़ने वाले निकल आये। उन्हों ने उनको पढ़ कर बताया कि ये पाण्डवों के गुप्त लेख हैं। अज्ञात वास और बनवास के समय जब वे वन वन मारे मारे फिरते थे तब उन्होंने अपने पक्षपातियों की जानकारी के लिए अज्ञान लिपि में ये लेख गुफाओं और शिलाओं पर खोद दिये थे। पण्डितों ने बे-सिर पैर का उनका आशय भी बता दिया। उन्हों ने एक पुस्तक ही हाजिर कर दी जिसमें उन्हों ने भारत की कितनी ही लिपियों की वर्णमालायें लिखी गई बताईं। इस पर उन्हे खूब इनाम दिया। इधर-पुरातत्त्ववेत्ता खुशी से नाच उठे। उन्हों ने घी के दिये जलाये और कहा, अब क्या है, अब तो पुराने से भी पुराने लेख पढ़ लेंगे। यह सब उस पण्डित की जालसाजी और धूर्त्तता थी। यह बात धीरे धीरे पुरातत्त्वज्ञों को मालूम हो गई और मूँड़ मार कर वे लोग फिर उन लेखों को पढ़ने की चेष्टा मे लगे। वे लोग एलोरा की गुफाओं में उत्कीर्ण और भी अनेक लेख इसके बाद ब्राह्मी लिपि मे उत्कीर्ण और

भी लेख मिलते गये थे।

इन लेखों को पढ़ लेने की सबसे अधिक जिज्ञासा जेम्स प्रिंसप के हृदय में उत्पन्न हुई। उन्हों ने अनेक लेखों की छापें मँगा कर सामने रक्खीं और लगे सब को परस्पर मिलाने। धीरे धीरे कुछ वर्ण रूप में एक ही से मालूम हुए। उनको वे अलग करते गये और अन्त में इस लिपि के स्वरों से परिचित हो गये। इससे उनका उत्साह बढ़ा। वे और वर्णों को भी पहचानने की चेष्टा करने लगे। गुप्त-लिपि के वर्णों से मिलान करके उन्हों ने कितने ही व्यञ्जनों से भी परिचय प्राप्त कर लिया। इस काम में पादरी जेम्स स्टीवन्स आदि ने भी उनकी कुछ सहायता की। उन्हों ने भी कुछ वर्ण पहचाने। इस प्रकार अनवरत-उद्योग करते करते प्रिंसेप को इस लिपि का पूरा ज्ञान प्राप्त हो गया और उन्हें यह भी मालूम हो गया कि इस लिपि में खुदे हुए अशोक के समय के इन लेखों की भाषा संस्कृत नहीं प्राकृत है। इलाहाबाद सांची, गिरनार, धौली आदि के अशोक स्तम्भों के लेखों को पढ़ लेने पर उन्हों ने यह पूर्वोक्त निष्कर्ष निकाला जो सर्वथा सच था। इस वर्णमाला का ज्ञान हो जाने पर ब्राह्मी लिपि के लेख धड़ाधड़ पढ़े जाने लगे और सन् ईसवी के पहले के भी भारतीय इतिहास की घटनायें प्रकाश में आने लगीं। यह बहुत बड़ा काम हुआ। इसका सारा श्रेय जेम्स प्रिंसेप को मिला।

बस अब भारतके पुरानी लिपियों मेंसे केवल एक लिपिका ज्ञान-सम्पादन करना शेष रहा। उसका नाम है खरोष्ठी। यह

लिपि पुराने जमाने में केवल पञ्जाब और उसके आगे गान्धार देशके ही लेखों आदि में थे, सन् ईसा के तीन चार सौ वर्ष पहले तक, प्रयुक्त हुई थी। वाक्ट्रियन ग्रीक, शक, क्षत्रप आदि राजवंशों के समय के सिक्कों पर यह लिपि व्यवहृत हुई थी। अफगानिस्तान की सीमा और उस देश के भीतर पाये गये अशोक के कई अभिलेख भी इस लिपि में हैं। इसके पहले कोई ससोनियम लिपि कहता था, कोई पहलवी, कोई ब्राह्मी का ही पूर्वरूप, कोई कुछ, कोई कुछ; पर पढ़ कोई नहीं सका। इधर मिले हुए सिक्कों पर एक ओर ग्रीक और दूसरी ओर खरोष्टी लिपि को देखकर मेसन साहेब ने अन्दाजन कुछ नाम पढ़े; यथा मिनेन्ड्रो, अपोलो डोटो, अरमाइयो आदि। ग्रीक नाम पढ़कर, कुछ कुछ अक्षर साम्य के आधार पर उन्होंने इस तरह का अन्दाज़ा किया है। उन्होंने इस विषय में प्रिंसप साहेब से लिखापढ़ी की। उन्होंने कई नामों और कई पदवियों को पढ़ लिया। इस प्रकार खरोष्टी-लिपिके कई अक्षरों का उद्घाटन हो गया। साथही यह भी मालूम हो गया कि यह लिपि अरबी-फारसी-लिपि के सदृश दाहिनी तरफ से बाईं तरफ को लिखी जाती है और सेमेटिक वर्गकी है। पर इस में लिखी हुई भाषा कौन है। उसका पता तब तक भी नहीं लगा। १८८३ ईसवी में वाक्ट्रिया के ग्रीकों के कुछ सिक्कों पर पाली-भाषा के लेख मिले। इस पर यह सन्देह हुआ कि खरोष्टी लिपिवाले लेखों की भी भाषा न हो पाली ही होगी। यह अनुमान सच निकला। अतएव इस लिपिमें लिखी हुई भाषा का पता

लग गया। इस भाषा-ज्ञान की सहायता से प्रिंसप साहेब ने खरोष्ठी के १७ अक्षर पढ़ लिया अवशिष्ट अक्षरों में से कुछ नारिस साहब ने और कुछ जनरल कनिंहाम ने पढ़े। इस तरह इस वर्ण माला का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया और भारत के प्राचीन इतिहास की जानकारी प्राप्त करने का मार्ग यथेच्छ खुल गया।

"एनश्यंट इंडियन अल्फावेट" नामकी पुस्तक में इस विषय का बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन है। कितनी कठिनाइयों को पार करके और कितने अजस्र उद्योग करने के अनन्तर-प्राचीन लिपियों को पढ़ लेने में सफलता हुई, इसका अन्दाजा पूर्वोक्त लेख पढ़ने पर ही हो सकता है। इस काम में सब से अधिक सफलता प्रिंसप साहब ही को हुई। अतएव हम भारतवासियों को उनका विशेष कृतज्ञ होना चाहिए। यही मत जनरल कनिंहाम का भी है। जनरल साहेब ने पुरातत्त्व-विषयक जो पुस्तक-माला लिखी है उसके भी पहले भागमें उन्होंने इस विषय का बड़ा मनोरञ्जक वर्णन किया है। सम्भव है, मूल लेखक ने अपने लेख का अधिकांश उसी की सहायतासे लिखा है।

प्रिंसप के बाद कोई ३० वर्ष तक जेम्स फर्गुसन, मेजर किटो एडवर्ड टामस, जनरल कनिंहाम, वाल्टर इलियट, मेडोज़ टेलर, स्टीवन्स, भाऊ दाजी आदि कितने ही विद्वानों ने भारतीय पुरातत्त्व के काम को आगे बढ़ाया और नये नये ऐतिहासिक तत्वों का उद्घाटन किया। किसीने उत्तरी भारत में काम किया, किसीने पश्चिम में, किसीने दक्षिण में। फर्गुसन ने पुरातनवस्तुविद्या

(Ancient Architecture) का ज्ञान प्राप्त करके पुस्तकें लिखीं। टामस ने पुराने सिक्कों की ज्ञान प्राप्ति के लिए परिश्रम किया। मेजर किट्टो ने पुरानी चित्र-विद्या के उद्धार की चेष्टा की टेलरने मूर्तिनिर्माण-विद्या पर पुस्तक-प्रकाशन किया। जनरल कनिंहाम ने ब्राह्मी, खरोष्टी, गुप्त कालीन-सभी लिपियों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करके सैकड़ों-हजारों शिलालेखों और दानपत्रों को विवरण-पूर्वक प्रकाशित किया। इन लोगों की देखादेखी भारतीय विद्वान् भी ज्ञान-सम्पादन् की इस शाखा की ओर झुके और पहले पहल वम्बई के डाक्टर भाऊ दाजीने कितने ही शिलालेखों का प्रकाशन करके इन पर गवेषणा-पूर्ण लेख लिखे। साथ ही काठियावाड़ के निवासी पण्डित भगवान् लाल इन्द्रजी और बङ्गाली विद्वान् डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने भी भारत के भूले हुए इतिहास के अनेक पृष्ठों पर प्रकाश डाली। यह सब काम इन लोगों ने निज की तौर पर, विना किसी के आर्थिक सहायता के किया।

१८४४ ईसवी में लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी ने ईस्ट इंडिया कम्पनी से सिफारिश की कि इस इतने महत्त्व के काम के लिए उसे मदद देनी चाहिए। इस बात को उसने मान तो लिया, पर किया कराया कुछ नहीं।

उस समय कर्नल कनिंहाम संयुक्तप्रान्त के चीफ इंजिनियर थे। पुरातत्व से उनको प्रेम पहले ही से था। उनसे कम्पनी की यह शिथिलता नहीं देखी गई। उन्हों ने एक योजना (स्कीम)

तैयार करके गवर्नमेंट-को भेजी और लिखा कि यदि यह काम गवर्नमेंट न करेगी तो फ्रेंच या जर्मन करेंगे। ऐसा होने से गवर्नमेंट की बड़ी बदनामी होगी। तब कहीं गवर्नर जनरल की सुषुप्ति भङ्ग हुई। उन्होंने इस योजना को मंजूर किया और १८५७ ईसवी में पुरातत्व-विभाग (Archeological Survey) की स्थापना हुई। कंनिंहाम ही उसके डायरेक्टर नियत हुए और इस काम के लिए उन्हें २५०) महीना अलौंस मिलने लगा। यह बन्दोबस्त चन्दरोजा समझा गया और ९ वर्ष तक जारी रहा। इस बीच में कनिंहाम साहेब ने पुरातत्व-विषयक ९ रिपोर्ट लिख कर प्रकाशित कीं। इन रिपोर्टों का सम्बन्ध केवल उत्तरी भारत से है। गवर्नमेंट का ख्याल था कि यह काम थोड़े ही समय में समाप्त हो जायगा। पर कनिंगाम साहब की रिपोर्ट देख कर उसकी आँखें खुल गईं। उसे मालूम हो गया कि यह काम तो बड़े महत्व का है-और शीघ्र समाप्त होने वाला नहीं।

तब, १८७२ ईसवी में गवर्नमेंट ने सारे भारत में पुरातत्व विषयक खोज कराने का निश्चय किया और कंनिंहाम साहेब ही को डाइरेक्टर जनरल बनाया। उसकी मदद के लिए उसने और विद्वानों को भी नियत किया। अतएव डाक्टर को भी यही काम दिया गया और १८७४ ईसवी में वे दक्षिण भारत में खोज करने लगे।

१८८० ईसवी तक पुरातत्व-विभाग प्राचीन खोज तो करता रहा, पर प्राचीन इमारतों की रक्षा का भार प्रान्तिक गवर्नमेंटों ही

पर था। उन्होंने इस काम में बड़ी शिथिलता की। परिणाम यह हुआ कि पुरानी इमारतें नष्ट होने लगीं। तब उनकी रक्षा के लिए एक क्यूरेटर नियत हुआ। उसने (मेजर कोल ने) १८८१ से १८८३ तक प्रिज़र्वेशन आव् नेशनल मान्यूमेंट्स नाम की तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं।

१८८५ ईसवी में जनरल कनिंहाम ने पेंशन ले ली। तब तक वे पुरातत्त्व-सम्बन्धिनी २४ रिपोर्टें निकाल चुके थे। ये रिपोर्टें बड़ी बड़ी जिल्दों में थीं। इनको पुरातत्त्वविषयक ज्ञान की बहुत बड़ी निधि समझना चाहिए। ये कनिंहाम साहेब के अलौकिक परिश्रम, उद्योग और योग्यता का अपूर्व साक्ष्य दे रहे हैं। बिना उनका साद्यन्त पाठ किये कोई भी साक्षर मनुष्य भारतीय पुरातत्त्व के इतिहास का पूरा पूरा ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।

कनिंहाम साहेब के बाद उनकी जगह डाक्टर बर्जेस को मिली। तब खोज के साथ ही संरक्षण का भी काम इसी महकमे को दिया गया। उसका विस्तार बढ़ाया गया। प्रत्येक भाग के लिए एक एक सर्वेयर की योजना की गई। प्राचीन लेख पढ़ने के लिए एक विलायती पंडित रक्खा गया। और उसकी सहायता के लिए देशी विद्वानों की भी योजना हुई। १८८९ ईसवी में बर्जेस साहब अपने घर गये। तब इस महकमे की कला उतरने लगी। इसके खर्च की जांच-पड़ताल करने के लिए कमिटी बनाई गई। उसने खर्च में बहुत कुछ कतर-ब्योंत करने की

सिफारिश की। यह स्वीकार हुई। कुछ सर्वेयर निकाले गये। डायरेक्टर जनरल का पद तोड़ दिया गया। सरकार ने कहा—बस ५ वर्षों में इसका काम खतम कर दिया जाय। परन्तु काम कुछ हुक्म के अधीन थोड़े ही रहता है। वस खतम न हुआ, उल्टा बढ़ता दिखाई दिया। तब गवर्नमेंट ने हुक्म निकाला कि खोज का काम वन्द किया जाय, केवल संरक्षण का काम जारी रहे। तदनुकूल ही कार्रवाई होने लगी। यह उतरती कला १९०० ईसवी तक रही।

इसी वीच में लार्ड कर्जन गवर्नर जनरल होकर भारत आये। उन्होंने पुरातत्व के काम में बड़ी दिलचस्पी दिखाई और एक लाख रुपया वार्षिक खर्च मंजूर किया। १९०२ में मार्शल साहब विलायत से बुलाये गये और डायरेक्टर जनरल नियत हुए। यही अब तक इस पद पर हैं। तब से इस महकमें का काम बहुत झपाटे से हो रहा है।

गवर्नमेंट की देखा-देखी कई देशी रियासतों ने भी अपने यहां पुरातत्व-विभाग खोल दिये हैं और अजायबघरों की भी स्थापना की है। भावनगार, माइसोर, हैदराबाद, ट्रावनकोर आदि राज्य इस विषय में सबसे आगे हैं। सारनाथ, मथुरा, नागपुर, कलकत्ता, बम्बई, मदरास, लाहोर, लखनऊ, अजमेर आदि में जो अजायब घर हैं उनमें पुराने सिक्कों, चित्रों शिला-लेखों, ताम्रपत्रों, और अन्य प्राचीन वस्तुओं के संग्रह को देखकर प्राचीन भारत की अनन्त ऐतिहासिक घटनाओं का दृश्य नेत्रों के

सम्मुख आ जाता है। लन्दन में भी एक बहुत बड़ा प्राचीन पदार्थ संग्रहालय भारत के पुरातत्व की खोज करने के लिए है। अब तो फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस आदि में भी बड़ी बड़ी संस्थायें खुल गई हैं और अनेक सामयिक पुस्तकें निकल रही हैं। उनमें बड़े ही गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। ये संस्थायें सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थों का भी उद्धार कर रही हैं। इस विषय में जर्मनी के विद्वानों ने सब से अधिक काम किया है और बराबर कर रहा है।

इस समय पुरातत्त्व से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक सामयिक पुस्तकें निकलती हैं। प्राचीन शिलालेखों और ताम्रपत्रों आदि के प्रकाशन के लिए भी-इंडियन ऐंटिक्वेरी, इपीग्राफिया इंडिका, इपीग्राफिया कर्नाटिका आदि-कई सामयिक पुस्तकें हैं। एक पुस्तक ब्रह्मदेश के प्राचीन लेख प्रकाशित करने के लिए अलग ही है।

इस महकमे ने भारत की प्राचीन कीर्ति की जितनी रक्षा की है उतनी और किसी ने नहीं की। इसी की बदौलत अनन्त स्तूपों, मन्दिरों मसजिदों और ऐतिहासिक इमारतों की रक्षा हुई है। यदि यह महकमा अस्तित्व में न आता तो अनेक प्राचीन नरेशों का नाम तक सुनने को न मिलता और अनेक प्राचीन राज-वंशों के अस्तित्व तक का पता न लगता।

- — —